वैदिक धर्म

[सितम्बर १९५५]

संपादक

पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

सहसंपादक

महेशचन्द्र शास्त्री, विद्याभास्कर

विषयानुक्रमणिका

वार्षिक मूल्य म. आ. से ५) रु.

वी. पी. से ५॥) रु. विदेशके लिये ६॥) रु

वर्ष ३६

वैदिक धर्म

अंक ९

क्रमांक ८१

भाद्रपद, विक्रम संवत २०१२, सितम्बर १९५५



प्रशस्त कर्म कर

महाँ अस्यध्वरस्य प्रकेतो न ऋते त्वदमृतामादयन्ते ।
आ विश्वेभिः सरथं याहि देवैर्न्यग्ने होता प्रथमः सदेह ॥

ऋ० ७।११।१

हे तेजस्वी प्रभो ! (अध्वरस्य महान प्रकेत. असि) तू हिंसा कुटिलता-रहित सत्कर्माका महान् प्रवर्तक है । (त्वद् ऋत अमृता न मादयन्ते) तेरे विना अमरदेव आनन्दित नहीं होते । (विश्वेभिः देवैः सरथं आयाहि) सब विबुधोंके साथ एक रथपर बैठकर यहां आओ और (इह प्रथमः होता निषद) यहां पहिला होता बनकर रहो ।

हिंसारहित कर्मोंका प्रचारक बन । विबुधोंको आनन्द हो ऐसे कर्म कर, विबुधोंके साथ विचरता रह और प्रथम स्थानमें विराज ।

वेद-मन्दिर-वृत्त

' योग महाविद्यालय ' तथा ' वेद महाविद्यालय ' के कार्यक्रम यथापूर्व व्यवस्थित रूपसे चल रहे हैं।

गायत्री जपका अनुष्ठान

जपसंख्या इस प्रकार हुई है—

१	पं. शिवकुमारजी शुक्ल, बलसाड	१६००००
२	वाशीम केन्द्र- श्री. आण्णाजी श्रीनिवास गुंडागुळे	५२४००
३	जबालपुर केन्द्र- श्री मगनलाल का. नायक	६६०००
४	स्वाध्याय मंडल, पारडी	१६०४८
५	श्री. द. मो. पेठे, नासिक	३१८७६
६	श्री. अ. स. वणीकर, अहमदाबाद	३३४८
		३२९६७२
	पिछली जपसंख्या	२२६९४३२
		२५९९१०४

श्री रघुनाथशास्त्री पटवर्धन, ज्योतिषी, शिंदे आळी, शुक्रवार पेठ, पूना द्वारा प्राप्त अनेक केन्द्रोंकी जपसंख्या–

१	पूना	७६००००
२	बंबई	६७१०००
३	कुलाबा	४६१५००
४	ठाना	८००००
५	रत्नागिरी	८३०००
६	सातारा	३२५०००
७	सोलापुर	१८२५००
८	नगर	२०२०००
९	बेलगांव	८००००
१०	बीड	२७४०००
११	सांगली	११२०००
१२	नासिक	२९०००
१३	कोल्हापुर	२५०००
१४	अमरावती	१३३०००
१५	भुसावल	१०००००
१६	जलगांव	१६०००
१७	वडनेरा	१७०००
१८	नंदुरबार	२७०००
१९	धामणगांव	७८०००
२०	बीदर	१९०००
		३६७४०००
	कुल जपसंख्या	६२७३१०४

गायत्री जप तथा उपवासके द्वारा गण्डमाला रोग दूर हुआ।

श्री गोपाळजी रणछोडजी देसाई, अनाविल ब्राह्मण (मु. दीहेण, ता. ओलपाड, जि. सूरत) को सन् १९४० में गण्डमाला नामक रोग हुआ।

प्रथम गलेमें ठोडीके नीचे एक गांठ उठी। डॉक्टरोंने उसे चीरकर दो मासतक औषधियाँ लगाकर पट्टियाँ बांधी; किन्तु कोई लाभ न हुआ। इन्जेक्शन दिये, किन्तु कोई लाभ नहीं हुआ; अपितु कानके नीचे गलेके चारों ओर अधिक गांठें उभर आई !!!

इसके पश्चात् वैद्यका २१ दिनतक इलाज किया। कुछ लाभ हुआ, तथापि फोडोंका झरना बन्द नहीं हुआ। डॉक्टर तथा वैद्योंने बताया कि यह रोग अच्छा नहीं होगा और उन्होंने उपचार करनेसे भी इन्कार कर दिया।

तब गायत्री मन्त्रका जप सन् १९४१ जनवरी माससे आरम्भ किया गया। वे इस विषयमें लिखते हैं कि– ' गायत्रीके मन्त्र-जपपर मेरा विश्वास था। गायत्री मन्त्रसे अभिमन्त्रित पानी देकर मैं बिच्छूका विष उतार दिया करता था। इस कारण मैं श्रद्धापूर्वक गायत्री मन्त्रका जप अपने रोगको दूर करनेके लिये करने लगा। '

' इस जपके साथ मैंने उपवास भी आरम्भ किया। २१ दिनतक उपवास तथा इस कालमें सवा लाख गायत्री मन्त्रका जप करनेका संकल्प करके मैंने वह आरम्भ कर दिया। खजूरका पानी, थोडा दूध, कभी चाय केवल यही मैं लेता था। '

' प्रतिदिन एक बैठकमें छः हजार जप करना था। प्रातः छः बजेसे लेकर दोपहर डेढ बजेतक मैं यह जप पूर्ण किया करता था। २१ दिनोंमें मैंने सवा लाख जप पूर्ण किया। '

' अशक्तता बहुत कुछ आगई थी, किन्तु गण्डमाला रोग २१ दिनोंमें समूल नष्ट हो चुका था। सभी गांठें नष्ट-प्राय हो चुकी थीं। इतनी अवधिमें केवल एक गांठ बाकी रही थी, किन्तु वह भी थोडे दिनोंमें दूर हो गई। '

' धीरे धीरे उपवास छोड दिया। धीरे धीरे हलका अन्न और उसके बाद सदाका आहार लेने लगा। एक मासमें पूर्णतः स्वस्थ हो गया। इसके पश्चात् १३।१४ वर्ष बीत गये। वह रोग जो गया तो सदाके लिये ही चला गया। यह चमत्कार गायत्री जप तथा उपवाससे हुआ। आज मेरा स्वास्थ्य अच्छा है। '

मन्त्री

जपानुष्ठान समिति

प्रमाणपत्र वितरणोत्सव

गेवराई

केन्द्रीय प्राथमिकशाला गेवराईकी इमारतमें स्वाध्याय मण्डलकी अ. भा. सं. प. समिति, मराठवाडा साहित्य परिषद्, हैद्राबाद राष्ट्रभाषा प्रचार सभा, इन तीनों संस्थाओंकी परीक्षाओंमें उत्तीर्ण हुए विद्यार्थियोंको प्रमाणपत्र देनेका समारम्भ बडी भव्यताके साथ श्रीयुत मा. ना. भागवत, मुख्याध्यापक माध्यमिक शालाकी अध्यक्षतामें हुआ। इस समारम्भमें विद्यार्थी, शिक्षक, अधिकारी एवं नागरिक एक बडी संख्यामें उपस्थित थे। ईश-स्तवनसे समारम्भ आरम्भ हुआ। श्रीयुत सीतारामपन्त नागपूरकर का उत्कृष्ट भाषण हुआ। संस्कृतभाषाका महत्व तथा मराठी और हिन्दीकी आवश्यकतापर उन्होंने अच्छा प्रकाश डाला। श्रीयुत अच्युतराव परळीकर का भाषण बडा मार्मिक हुआ। अध्यक्षीय भाषणसे श्रोताओंपर बहुत प्रभाव पडा। राष्ट्रभाषाके कारण हिन्दी, प्रान्तीय भाषाके कारण मराठी तथा सम्पूर्ण ज्ञानके भाण्डारकी भाषाके कारण संस्कृतका अध्ययन आवश्यक है। राष्ट्रगीत एवं चायपानके पश्चात् समारम्भ पूर्ण हुआ।

बीड

३० जून रविवार मध्याह्न ४ बजे चम्पावती हाईस्कूलमें प्रमाणपत्र उत्सव मनाया गया। अध्यक्षपद श्री वेदशास्त्रसम्पन्न देवीदासराव माण्डे गुरुजी, ज्योतिषाचार्यने अलङ्कृत किया। अधिकारी, छात्र एवं नागरिकोंकी उपस्थिति बहुत अच्छे प्रमाणमें थी। श्री ना के. महाशय, शिक्षकने अध्यक्षका प्रस्ताव रखा और श्री ल. शा. उमरदकर ने अनुमोदन किया। केन्द्रव्यवस्थापक श्री रामरावजी रोंगे ने अध्यक्ष महोदयका पुष्पहारसे सत्कार किया। इस अवसरपर प्रथम वक्ता श्री रा. रा. एस्. पी. जोशी, बी. ए. एम्. एड्. ने अत्यन्त बोधप्रद भाषण दिया। द्वितीय वक्ता श्री रा. रा. बाबूसिंहसाहेब, बी. ए. बी. टी. ने संस्कृतका प्राचीन महत्व बताया तथा पूर्व और पश्चिमकी संस्कृतिकी तुलना करते हुए संस्कृतके प्रति आदरभाव बढानेकी प्रेरणा की। इसके बाद केन्द्रव्य० श्रीयुत रामराव रोंगेजीने केन्द्रका विवरण पढकर सुनाया। इस केन्द्रसे श्री भगवानराव मुळे 'प्रवेशिका' में भारत में सर्वप्रथम उत्तीर्ण हुए. अतः उनका विशेष अभिनन्दन किया गया। प्रमाणपत्र वितरण एवं अध्यक्षीय भाषण -जोकि अतीव प्रभावशाली एवं विद्वत्तापूर्ण था- के पश्चात् समारम्भ समाप्त हुआ।

औंढा नागनाथ

दि. २४ जून ५५ इ. को स्थानीय प्राथमिक शालाके प्रांगणमें गत परीक्षाका 'प्रमाणपत्र-वितरणोत्सव' मनाया गया। शिक्षक एवं विद्यार्थियोंके अतिरिक्त नगरके अन्य प्रतिष्ठित व्यक्ति भी इस अवसरपर उपस्थित हुए।

शालेय समितिके अध्यक्ष और स्थानीय नेता श्रीमान् रंगनाथरावजी बंगाळे को अध्यक्षपदपर नियोजित करके, उनके करकमलोंद्वारा उत्तीर्ण छात्रोंको प्रमाणपत्र वितरित किये गये।

केन्द्रव्यवस्थापक श्रीयुत मोरेश्वर दत्तात्रय देवजीने केन्द्रकी गत तीन परीक्षाओंका विवरण पढकर सुनाया और छात्रोंको उत्तरोत्तर संस्कृत परीक्षाओंमें सम्मिलित होकर वैदिक भाषामें प्रवीणता सम्पादन करनेके सम्बन्धमें बोधित किया। इसके उपरान्त निम्नाङ्कित वक्ताओंके सारगर्भित भाषण हुए—

श्रीमान् लिंगप्पासा, मुख्याध्यापकने जागतिक भाषाओंमें संस्कृत भाषाका स्थान, प्राचीनता और भारतीयोंको उसकी शिक्षाकी आवश्यकतापर अच्छी प्रकार प्रकाश डाला।

केन्द्रके कार्यवाह श्री यादवरावजी मुळे ने अपने वक्तव्यमें संस्कृत भाषाकी प्राचीनता और संस्कारितापर कहते हुए— संस्कृतकी शिक्षासे भारतकी अन्य प्रान्तीय भाषाकी शिक्षामें सुगमता और सुविधा किसप्रकार होती है; यह सिद्ध किया और संस्कृतकी अत्यावश्यकता प्रदर्शित की।

श्रीमान् भिकुलालजी काबरा (केन्द्रव्यवस्थापक हिन्दी परीक्षा) ने छात्रोंको उपदेशित किया कि-- संस्कृतके सामान्य ज्ञानसे भी उन्हें हिन्दी भाषाके अभ्यासमें अच्छी प्रकार सुविधा और प्रवीणता साध्य होगी। अतः वे संस्कृत परीक्षाओंमें अवश्य सम्मिलित हुवा करें।

श्री भीमरावजी चारगणकर ने नागरिकोंको इस कार्यमें सहयोग देनेकी विनंति की, जिससे इस कार्यको विशेषरूपमें प्रगति हो सके।

इसके पश्चात् अध्यक्षीय भाषणमें श्रीमान् रंगनाथरावजी बंगाले ने स्वाध्यायमण्डलके प्रचारकोंके विषयमें बडा हार्दिक आनन्द व्यक्त करते हुए, मण्डलके कार्यकर्ताओंको दीर्घायु प्रदान करनेकी ईश्वरसे प्रार्थना की। आपने वास्तविक अनाथ और शिक्षणेच्छु छात्रोंको संस्कृत परीक्षाका कुछ शुल्क प्रदान करनेका अभिवचन देकर, उनके उत्साहको इस कार्यमें द्विगुणित करनेकी चेष्टा की।

अन्तमें श्री यादवरावजी सुळे ने श्री केशवरावजी वझूरकर 'संस्कृत शिक्षक' का विशेष रूपमें और पश्चात् उपस्थित महानुभावोंका आभार प्रदर्शन करके सभाका कार्यक्रम समाप्त किया।

खम्भात

ता. १०-७-५५ ई. रविवारको सायकाल भुजबाला सं. पाठशाला, खम्भात केन्द्रमें कॅम्बे हाईस्कूलके आचार्य श्रीमान् भानुभाई शाह की अध्यक्षतामें एक संस्कृत विद्वत् सभा हुई जिसमें संस्कृतभाषा प्रचार विषयपर श्रीमान् अध्यक्ष महोदयजीका तथा संस्कृत विद्वत्सभा खम्भातके प्रधानमन्त्री शास्त्री आदित्यनारायण मिश्र जी (केन्द्रव्य०) का विद्वत्तापूर्ण भाषण हुआ। जिससे विद्यार्थी मण्डलमें पूर्ण उत्साह आया और भी अनेक विद्वानोंके भाषण हुए। भाषणके बाद भुजबाला संस्कृत पाठशाला खम्भात केन्द्रमें स्वाध्यायमण्डल, किल्ला पारडी सूरत द्वारा संचालित परीक्षाओंमें उत्तीर्ण छात्रवर्गको अध्यक्षजीके हाथसे प्रमाणपत्र वितरण करवाया गया। बहुत उत्साहपूर्वक उत्सव मनाया गया। अन्तमें केन्द्रव्यवस्थापक मिश्रजीने अध्यक्ष महोदय प्रभृतिको आभारप्रदर्शन किया।

बम्बई

"विजय निःशुल्क हिन्दी विद्यालय कुर्लाका आठवां वार्षिकोत्सव" ता. १०-७-५५ को श्री डा. गौरीशंकर जीकी अध्यक्षतामें मनाया गया। संध्या-हवनके पश्चात् विद्यालयके आचार्य श्री विजयकुमार जी त्यागी गीतालङ्कारने अध्यक्ष महोदयका पुष्पाहारसे स्वागत करते हुए विद्यालयके कार्यका परिचय कराया।

इसके पश्चात् वेदमन्त्रोंकी ध्वनिके बीच अध्यक्ष महोदय का भाषण प्रारम्भ हुआ। आपने आधुनिक शिक्षा-पद्धतिकी आलोचना करते हुए गुरुकुलकी पद्धतिको अत्युत्तम ठहराया और कहा "मुझे आश्चर्य होता है कि त्यागीजी नगरक वातावरणमें रहते हुए भी किस प्रकार गुरुकुल शिक्षा-पद्धतिपर बालकोंको शिक्षा दे रहे हैं।" संस्कृत और हिन्दी पढनेपर जोर देते हुए परीक्षोत्तीर्ण छात्र एवं छात्राओंको धन्यवाद दिया।

फिर "राष्ट्रभाषा प्रचार समिति वर्धाकी (प्रारम्भिक, प्रवेश, परिचय, कोविद) तथा अखिल भारतीय संस्कृत-भाषा प्रचार समिति, पारडी सूरत" की परीक्षाओंमें उत्तीर्ण (प्रारम्भिणी, प्रवेशिका, परिचय) छात्र एवं छात्राओंको अध्यक्ष महोदयने अपने करकमलोंसे पुरस्कार तथा प्रमाणपत्र वितरित किये।

विद्यालयके ब्र. रमेशचन्द्र, विद्याविशारदने सुमधुर वाणीमें वैदिक गीत सुनाया। बच्चोंको मिठाई खिलाई गई और शान्तिपाठके बाद सभा विसर्जित की गई।

दिव्य जीवन

[श्री अरविंद]

अध्याय २०

[गताङ्कसे आगे]

वास्तवमें, चूंकि हमारा प्राण मनकी अन्धकार-युक्त और विभाजक क्रियाके आधीन है, इसलिए स्वयं भी अन्धकार युक्त और विभक्त है और इस कारण ही उसे उस सम्पूर्ण मृत्यु, परिच्छिन्नता, दुर्बलता, दु:ख और अज्ञ क्रियाके आधीन रहना होता है। जिनका जनक और कारण बद्ध और परिच्छिन्न जीव-मन है। हम यह देख चुके हैं कि इस विपरीतताका मूल कारण आत्म-अज्ञानमें बद्ध जीवात्माकी आत्म-परिच्छिन्नता थी; कारण जीव दूसरोंका निराकरण करते हुए केवल अपने ऊपर अपने आपको केन्द्रित करता है और अपने आपको एक पृथक् स्वयं-सत् व्यक्ति मानता है; वह विश्वके सम्पूर्ण व्यापारको केवल वैसा ही मानता है जैसा कि वह उसकी व्यक्तिगत चेतना, उसके व्यक्तिगत ज्ञान, इच्छा, शक्ति, उपभोग और परिच्छिन्न सत्ताको प्रतीत होता है; वह अपने आपको एकमेव द्वितीय सत्पुरुषका एक सचेतन रूप नहीं मानता और सर्व चेतना, सर्व ज्ञान, सर्व इच्छा, सर्व शक्ति, सर्व भोग एवं सर्वसत्ताको अपने चेतना, ज्ञान, इच्छा, शक्ति, भोग एवं सत्ता मानते हुए इनके साथ तादात्म्य भाव नहीं करता।

हमारे भीतरका वैश्व प्राण मनके बंधनमें बद्ध जीवात्माके इस निर्देशका पालन करता हुआ स्वयं भी व्यक्तिगत कर्ममें बद्ध हो जाता है। वह परिमित एवं अपर्याप्त शक्तिके साथ रहता और कर्म करता है और उसके चारों ओर विद्यमान वैश्व प्राणसे जो इसपर दबाव पड़ता है एवं आघात होते हैं उन्हें विवश होकर सहन करता है, स्वेच्छासे उनका आलिंगन नहीं करता। प्राण विश्वमें एक दुर्बल, परिच्छिन्न, व्यक्तिगत सत्ताके रूपमें आता है जहां कि शक्तिका सतत वैश्व आदान प्रदान होता रहता है; अपनी इस प्रारंभिक अवस्थामें वह जो उसपर आक्रमण करता है, उसे खाता है, उसका उपभोग करता है, उपयोग करता है, उसे चलाता है उस सबकी दानवी क्रियाको असहाय होकर सहन करता है और उसके प्रति केवल जड प्रतिक्रिया करता है।

परन्तु जब चेतनाका विकास होता है, जब कि व्यक्तिगत सत्तामें अन्तर्भावमयी निद्राके जड अन्धकारसे स्वयं अपनी सत्ताके प्रकाशका उदय होता है तब वह व्यक्तिगत सत्ता अपने भीतरकी शक्तिका धुंधलासा अनुभव करती है; तब वह पहले स्नायुओंके द्वारा और फिर मनके द्वारा इस क्रीडापर प्रभुत्व प्राप्त करता, इसका उपयोग और उपभोग करनेका प्रयत्न करती है। अपने भीतरकी शक्तिके प्रति यह उद्बोधन आत्माके प्रति क्रमशः उद्बोधन है। कारण प्राण शक्ति है, शक्ति इच्छा है और इच्छा ईश्वर-चेतनकी क्रिया है। व्यक्तिगत प्राणको अपनी गहराइयोंमें यह अधिकाधिक ज्ञान होता जाता है कि वह स्वयं सच्चिदानन्दकी वह इच्छाशक्ति है जो कि विश्वकी प्रभु है और यह व्यक्तिगत प्राण भी व्यक्तिगत रूपसे स्वयं अपने जगत्का प्रभु होनेकी अभीप्सा करता है। अतः समस्त व्यक्तिगत प्राणमें यह बढता हुआ अन्तर्वेग विद्यमान रहता है कि वह अपनी शक्तिको प्राप्त करे और अपने जगत्को जाने और उसका प्रभु हो। प्राणकी विश्वमें आत्म-अभिव्यक्तिका यह अन्तर्वेग मुख्य रूप है। जैसे जैसे उसकी अभिव्यक्ति बढती जाती है वैसे वैसे यह अन्तर्वेग भी बढता जाता है।

परन्तु यद्यपि प्राण शक्ति है और व्यक्तिगत प्राणको वृद्धिका अर्थ है व्यक्तिगत शक्तिकी वृद्धि, तथापि चूंकि वह विभक्त व्यक्तित्वभावापन्न प्राण और शक्ति है इसलिए उसका इस प्रकार विभक्त और व्यक्तित्वभावापन्न होना उसे अपने जगत्का यथार्थ प्रभु होनेसे रोकता है। कारण जगत्के प्रभु होनेका अर्थ होगा सर्व-शक्तिका प्रभु होना और विभक्त एवं व्यक्तित्वभावापन्न चेतनाके लिए

जो कि विभक्त, व्यक्तित्वभावापन्न एवं इसलिए सीमित शक्ति और इच्छा रखती है, सर्वशक्तिका प्रभु होना असंभव है। केवल सर्वेच्छावान् ईश्वर ही जगत्का प्रभु हो सकता है और व्यक्ति, यदि वैसा हो सकता है तो, सर्वेच्छावान्के साथ और इसलिए सर्वशक्तिमान्के साथ पुनः एक होकर ही हो सकता है। इसके बिना व्यक्तिगत प्राण व्यक्तिगत देहमें सदा तीन प्रकारकी परिच्छिन्नताके आधीन रहेगा- मृत्यु, कामना और अशक्ति।

व्यक्तिगत प्राणपर जो मृत्युका आरोपण है उसके दो कारण हैं, प्रथम इसकी स्वयं अपनी अवस्थायें हैं, दूसरे इसके उस सर्वशक्तिमान्के साथ संबंध हैं जो कि अपने आपको विश्वमें अभिव्यक्त कर रहा है। कारण व्यक्तिगत प्राण शक्तिका एक विशिष्ट परिणाम है; यह असंख्य रूपोंमेंसे एकका निर्माण करने, उसे स्थिर रखने, उसका पोषण करने और अन्तमें उसकी उपयोगिता समाप्त होनेपर उसका विलय करनेका कार्य करता है। शक्तिके इन असंख्य रूपोंमेंसे प्रत्येक अपने अपने स्थान, समय और क्षेत्रमें क्रिया करते हुए विश्वकी संपूर्ण लीलाका संपादन करते हैं। देहगत प्राणकी शक्तिको अपनेसे बाहर विश्वगत शक्तियोंके आक्रमणका पोषण करना होता है; उसे उन्हें अपने भीतर लेना, उन्हें खा लेना होता है और अन्तमें सतत उनसे खाये जाना होता है।

उपनिषद्के अनुसार सम्पूर्ण भौतिक द्रव्य अन्न है और भौतिक जगत्का यह सिद्धान्त है कि "भक्षक भक्षण करता है और स्वयं भक्षित होता है।" देहमें गठित प्राणके लिए सर्वदा यह संभावना रहती है कि वह अपनेसे बाहरी प्राणके आक्रमणसे छिन्नभिन्न हो जाय; यह भी संभव है कि उसकी भक्षण करनेकी सामर्थ्य कम हो जानेसे या आवश्यकता पूरी न होनेसे, अथवा भक्षण करनेकी सामर्थ्य और बाहरी प्राणकी भक्ष्यसामग्री देनेकी सामर्थ्य या आवश्यकतामें समतुलन न होनेसे, दैहिक प्राण अपनी रक्षा नहीं कर सकता। अतः दूसरोंसे भक्षित होता है अथवा अपने आपको पुनर्नवीन न कर सकनेके कारण छिन्नभिन्न या नष्टभ्रष्ट हो जाता है, उसे नवनिर्माण या नवभावकी प्राप्तिके लिए मृत्युके मध्यसे जाना होता है।

केवल इतना ही नहीं है। उपनिषद्की भाषामें तो प्राण देहका आहार है और देह प्राणका आहार है। दूसरे शब्दोंमें, हमारे भीतरकी प्राण-शक्ति उस उपादानभूत द्रव्यको प्रदान करती है जिससे कि देहका निर्माण होता है, वह स्थिर रहता है और निरंतर पुनर्नवीन होता रहता है और साथ ही अपने उस द्रव्यात्मक रूपको, जिसका कि वह इस प्रकार निर्माण करती है और जिसे विद्यमान रखती है, निरंतर आत्मसात् भी करती जाती है। यदि इन दो क्रियाओंके समतुलनमें कोई त्रुटि हो या कोई विकार उत्पन्न हो जाय अथवा यदि प्राण-शक्तिकी विभिन्न धाराओंकी व्यवस्थित क्रिया अव्यवस्थित हो जाय, तो रोग एवं बुढापा आ जाते हैं और विघटन-क्रिया प्रारंभ कर देते हैं।

उस समय सचेतन प्रभुत्वके लिए प्रयास और मनकी उन्नति जीवनकी विद्यमानताको अधिक कठिन बना देते हैं। कारण तब प्राण-शक्ति देहसे अधिक मांग करती है, यह मांग उससे अधिक होती है जितनी कि, देह पूर्ति कर सकता है; अतः मांग और पूर्तिका जो मूल समतुलन था वह बिगड जाता है और नवीन समतुलनके स्थापित होनेसे पहले बहुतसे ऐसे विकार घुस बैठते हैं जो कि जीवनकी समंजसता और दीर्घकालीन स्थिरताके प्रतिकूल होते हैं। इसके अतिरिक्त प्रभुत्व प्राप्तिका प्रयत्न सदा वातावरणमें अपने सजातीय प्रतिक्रियाको उत्पन्न करता है, यह वातावरण ऐसी शक्तियोंसे भरपूर होता है जो कि स्वयं भी परिपूर्णताकी कामना करती हैं और इसलिए जो सत्ता उनपर प्रभुत्व प्राप्त करना चाहती है उसके प्रति असहिष्णु होती हैं, विद्रोह करती हैं और उसपर आक्रमण करती हैं।

ऐसी अवस्थामें यहां भी समतुलन बिगड जाता है और एक अधिक तीव्र संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। प्रभुत्वके लिए चेष्टा करनेवाला प्राण चाहे कितना भी बलवान् क्यों न हो, यदि वह असीम नहीं है अथवा यदि वह अपने वातावरणके साथ नवीन सामंजस्य स्थापित करनेमें सफल न हो तो वह सर्वदा प्रतिरोध नहीं कर सकता और विजय प्राप्त नहीं कर सकता, अपितु एक दिन अवश्य पराजित और विघटित हो जाता है।

परन्तु इन समस्त आवश्यकताओंके अतिरिक्त, स्वयं सदेह प्राणके स्वभाव और उद्देश्यकी एक मूलभूत आवश्यकता है, वह आवश्यकता है सान्त आधारपर अनन्त अनु-

भवको प्राप्त करना और चूंकि रूप आधारका गठन ही इस प्रकारका होता है कि वह अनुभवकी संभावनाको परिसीमित करता है, इसलिए अनन्त अनुभवकी प्राप्ति तभी हो सकती है जब कि पुराने रूपको विनाश कर दिया जाय और नवीन रूपोंको प्राप्त किया जाय। कारण जब अन्तरात्मा देश और कालपर समाहित करके एक बार अपने आपको परिसीमित कर लेता है तो वह फिर क्रमशः, कालिक अनुभवको क्षण प्रतिक्षण बढ़ाते हुए और इस प्रकार उसका संचय करते हुए जिसे कि वह अपना अतीत कहता है, अपनी अनन्तताको प्राप्त करनेके लिए प्रेरित होता है।

उस कालमें वह क्रमिक क्षेत्रोंमेंसे, क्रमिक अनुभवों या जीवनोंमेंसे, ज्ञान, शक्ति और उपभोगोंके क्रमिक संचयों-मेंसे होता हुआ गति करता है; वह इस सबको कालमें उपार्जित अपनी अतीत निधिके रूपमें अपनी अवचेतन या अतिचेतन स्मृतिमें रखता है। इस क्रियाके लिए रूप (देह) का परिवर्तन आवश्यक है और व्यक्तिगत देहमें बद्ध अन्तरात्माके लिए रूप-परिवर्तनका अर्थ है देहका विनाश। यह विनाश होता है भौतिक विश्वमें सर्व-प्राणके विधान और स्वभावके आधीन विश्वमें। सर्व-प्राणका विधान यह है कि देहकी सत्ताके लिए उसे उसकी भक्ष्य सामग्रीसे संभरण करना चाहिए और फिर उसे भी दूसरे देहोंके लिए भक्ष्य सामग्री देनी चाहिए, इस विश्वमें प्रत्येक सदेह प्राण एक दूसरेपर आघात करता और एक दूसरेका भक्षण करता है और ऐसे विश्वमें ही उसे अपना अस्तित्व रखनेके लिए संघर्ष करना पड़ता है और यही मृत्युका विधान है।

अतः मृत्युकी यही आवश्यकता और उचितता है; इसका अर्थ यह नहीं है कि मृत्यु जीवनका निषेध है अपितु जीवनकी एक क्रिया एक मार्ग है। मृत्युकी आवश्यकता इसलिए है क्योंकि रूपका नित्य परिवर्तन ही एकमात्र वह अमरत्व है जिसकी कि सान्त सजीव द्रव्य अभीप्सा कर सकता है और अनुभवका नित्य परिवर्तन ही वह एकमात्र आनन्त्य है जिसे कि सजीव देहमें बद्ध सान्त मन प्राप्त कर सकता है। रूपका यह परिवर्तन केवल एक ही रूपाकृतिकी सतत पुनर्नवीनताके रूपमें, जैसी कि वह हमारे दैहिक जीवनमें जन्म और मृत्युके बीचमें होती है, नहीं रहने दिया जा सकता।

कारण रूपाकृतिमें पूरा परिवर्तन हुए बिना और अनुभव करनेवाले मनके देशकाल और वातावरणकी नवीन परिस्थितियोंमें नवीन रूप धारण किये बिना, वे विभिन्न प्रकारके आवश्यक अनुभव नहीं हो सकते जिनकी कि देश और कालमें आई हुई सत्ताको आवश्यकता है और विनाशके द्वारा, एक प्राणके दूसरेके खाये जानेके द्वारा होनेवाली मृत्यु, स्वतंत्रताका अभाव, विवशता, संघर्ष, दुःख, जो अनात्म प्रतीत होता है उसके प्रति आधीनता,— ये वस्तुएं ही इस आवश्यक और हितकारी परिवर्तनके विषयमें हमारे मरणशील मनको यह भान कराते हैं कि यह भीषण और अप्रिय है। खाये जाने, छिन्न भिन्न होने, विनष्ट होनेका भाव ही मृत्युका डंक है और उसे मृत्युके अनन्तर पुनर्जीवन-का विश्वास भी पूरी तरह दूर नहीं हटा सकता।

परन्तु भौतिक द्रव्यमें प्राणका जो प्रारंभिक विधान हम देखते हैं— परस्पर भक्षण, उसकी अनिवार्य आवश्यकता है मृत्युका होना। उपनिषद्में कहा गया है कि प्राण भूख है और भूख मृत्यु है और इस भूखसे जो कि मृत्यु है (अशनाया मृत्युः। बृहद् १।२।१) इस भौतिक जगत्की सृष्टि हुई है। कारण प्राण यहां भौतिक द्रव्यका रूप धारण करता है और फिर उसे अपने विकासका आधार बनाता है। भौतिक द्रव्य अनन्त प्रकारसे अपने आपको विभक्त करता है और फिर अनन्त प्रकारसे संघटित (संयुक्त) करनेका प्रयत्न करता है; इस अनन्त विभाग और अनन्त संयोगके दो अन्तर्वेगोंके बीचमें विश्वकी भौतिक सत्ताका निर्माण होता है। व्यक्तिका, सजीव परमाणुका अपने अस्तित्वको बनाये रखने और अपना सवर्धन करनेके लिए जो प्रयत्न है यही कामनाका पूरा भाव है; अधिकाधिक सर्वग्राही अनुभवके द्वारा अधिकाधिक सर्वग्राही प्रभुत्व, लय, आत्मसात्करण और उपभोगके द्वारा दैहिक, प्राणिक, नैतिक और मानसिक संवर्धन सत्ताका अनिवार्य, मूलभूत अवर्णनीय अन्तर्वेग है; यह वह सत्ता है जो कि एक बार विभक्त और व्यक्तिस्वभावापन्न होकर भी सदा अपनी सर्व-ग्राही सर्व-प्रभु अनन्तताकी गुह्य चेतना रखती है।

उस गुह्य चेतनाको अनुभव करनेका अन्तर्वेग वैश्व, भगवान्की प्रेरणा है; यही प्रत्येक जीवके भीतर देहधारी आत्माका काम-वेग है और यह अन्तर्वेग जो पहले अपने

अधिकाधिक वर्धन और विस्तारके द्वारा जीवनके रूपोंमें अपने आपको व्यक्त करनेका प्रयास करता है, यह अनिवार्य, उचित और हितकारी है। भौतिक जगत्में यह केवल अपने आसपासके तत्वोंके खानेसे, दूसरोंको या जो दूसरोंके पास है उसे आत्मसात् करके अपनी वृद्धि करनेसे ही हो सकता है और भूखके सभी रूपोंमें इस आवश्यकताका होना विश्वव्यापी औचित्य रखता है। परन्तु साथ ही जो भक्षण करता है वह स्वयं भी भक्षित होता है, कारण आदान प्रदानका, क्रिया और प्रतिक्रियाका, परिमित शक्ति और इसलिए अन्तिम क्षीणता एवं मृत्युका विधान भौतिक जगत्में समस्त प्राणपर लागू होता है।

अवचेतन प्राणमें जो अभीतक केवल प्राणमयी भूख थी वह चेतन मनकी भूमिकामें उच्च रूपोंको धारण कर लेता है; प्राणमय अंगोंकी भूख मनोमय जीवनमें कामनाकी लालसा और बौद्धिक या विचारशील जीवनमें इच्छाका प्रयास हो जाती है। जबतक कि व्यक्ति इतनी पर्याप्त उन्नति नहीं कर लेता कि वह स्वयं अपने ऊपर प्रभुत्व प्राप्त कर ले और अनन्तके साथ एकताकी वृद्धि करता हुआ अपने विश्वका प्रभु हो जाय तबतक कामनाकी यह क्रिया होती रहती है और होती रहनी चाहिये। कामना वह आधार-साधन है जिसके द्वारा दिव्य प्राण-तत्त्व विश्वमें आत्म-दृढताके अपने उद्देश्यको कार्यान्वित करता है, तमोगुणके प्रभावमें इसके अन्त करनेका प्रयत्न करना इस दिव्य प्राणतत्त्वका निषेध करना है, न रहनेकी इच्छा है जो कि अज्ञान है; कारण व्यक्ति अनन्त हुए बिना अपने व्यक्तिस्वभावसे रहित नहीं हो सकता। कामनाका भी यथार्थ अन्त तभी होता है जब कि वह अनन्तकी कामना हो जाय और अनन्तके सर्वव्यापी आनन्दमें दिव्य परिपूर्णता और अनन्त तृप्ति अनुभव करते हुए अपने आपको तृप्त करे।

इस अवस्थाके आनेसे पहले कामनाको परस्परका भक्षण करनेवाली भूखसे एक दूसरेके लिए दान स्वभावकी ओर, ऐसे बढते हुए यज्ञ (त्याग) की ओर उन्नत होना चाहिये जिसमें परस्पर आदान-प्रदानमें हर्षका अनुभव होता है; व्यक्ति अपने आपको दूसरे व्यक्तियोंको देता है और बदलेमें उन्हें फिर लेता है; निम्न अपने आपको उच्चके प्रति देता है और उच्च निम्नके लिये देता है जिससे कि वे एक दूसरेमें परिपूर्ण हो जांय; मनुष्य अपने आपको भगवान्को देता है और भगवान् अपने आपको मनुष्यको देता है; व्यक्तिके भीतरका सर्वस्व अपने आपको विश्वके भीतरके सर्वको देता है और अपने अनुभूत वैश्व भावको दिव्य प्रतिदानके रूपमें प्राप्त करता है। इस प्रकार भूखके विधानके स्थानपर क्रमशः प्रेमके विधानको, विभागके विधानके स्थानपर एकताके विधानको, मृत्युके विधानके स्थानपर अमरताके विधानको आना चाहिये। विश्वमें जो कामना क्रिया कर रही है उसकी यह आवश्यकता, उचितता, परिसमाप्ति और परिपूर्णता है।

प्राण जो मृत्युके इस छद्मरूपको धारण करता है वह सान्त व्यक्तिकी उस क्रियाका परिणाम है जो कि वह अपनी अमरताके दृढीकरणमें करता है। इस ही प्रकार सत्पुरुषकी प्राणमें व्यक्तित्वभावापन्न शक्तिका अन्तर्वेग कामना है; सत्पुरुष जब कालगत क्रम परम्पराके रूपमें और देशगत आत्म-विस्तारके रूपमें, सान्त आधारके भीतर अपने अनन्त आनन्दको, सच्चिदानन्दके आनन्दको क्रमशः अधिकाधिक अनुभव करनेके लिए अपनी व्यक्तित्वभावापन्न शक्तिका प्रयोग करता है, उसकी इस शक्तिका अन्तर्वेग ही कामना है। कामनाका यह रूप जिसे कि यह अन्तर्वेग धारण करता है, प्राणके तीसरे गुण, इसके अशक्ति-स्वभावका साक्षात् परिणाम है। प्राण अनन्त शक्ति है जो कि सान्तकी अवस्थाओंमें क्रिया कर रही है; अतः यह अनिवार्य है कि सान्तमें जो प्राणकी स्थूल व्यक्तित्वभावापन्न क्रिया होती है उसमें सर्वत्र उसकी सर्वशक्तिमत्ताको एक परिसीमित शक्ति और आंशिक अशक्तिके रूपमें प्रकट होना और कर्म करना चाहिये। परन्तु साथ ही यह भी बात है कि व्यक्तिके प्रत्येक कर्मके मूलमें अनन्त सर्वशक्तिमयी शक्तिकी सम्पूर्ण अतिचेतन और अवचेतन उपस्थिति रहनी चाहिए, चाहे कर्म कितना भी दुर्बल, निरर्थक और मूढ भ्रान्तियुक्त क्यों न हो। उसके पीछे उस उपस्थितिके रहे बिना विश्वमें एक भी तुच्छसे तुच्छ घटना नहीं हो सकती।

विश्वके समस्त कर्मोंमेंसे प्रत्येक कर्म सर्वशक्तिमान् सर्वज्ञानके आदेशसे होता है, यह सर्वशक्तिमान् सर्वज्ञान समस्त पदार्थोंमें अतिमनके रूपमें अन्तर्निहित होकर क्रिया

करता है। परन्तु व्यक्तित्वभावापन्न प्राण-शक्ति अपनी चेतनाके लिए परिच्छिन्न और अशक्तिसे पूर्ण है, कारण उसे अपने आसपासकी व्यक्तिगत प्राण-शक्तियोंके समूहके विरोधमें कार्य करना पड़ता है; इसके अतिरिक्त, उसे स्वयं अनन्त प्राणके नियंत्रण और निषेधके आधीन होकर भी कर्म करना होता है और यह संभव है कि उस अनन्त प्राणकी समष्टि, इच्छा और प्रवृत्तिके साथ व्यक्तिगत प्राणकी इच्छा और प्रवृत्ति साक्षात् मेल न खाती हो। इसलिए शक्तिकी परिच्छिन्नता, अशक्ति, व्यक्तित्वभावापन्न और विभक्त प्राणकी तीन विशेषताओंमेंसे तीसरी है।

दूसरी ओर आत्म-वर्धन और सर्व-प्रभुत्वका अन्तर्वेग भी विद्यमान रहता है और यह अपने आपको अपनी वर्तमान शक्तिके भीतर सीमित नहीं रखना चाहता। अतः अधिकार (प्रभुत्व) करनेके अन्तर्वेग और अधिकार करनेकी शक्तिके बीच जो खाई है उससे कामना उत्पन्न होती है; कारण यदि यह भेद न हो, यदि शक्ति अपने अभीष्ट पदार्थको सदा प्राप्त करके, अपने लक्ष्यको सदा सुरक्षित रूपमें प्राप्त करले तो कामनाका अस्तित्व ही न होगा। अपितु केवल शान्त आत्मस्थ संकल्प होगा जिसमें लालसा नहीं होगी, जैसा कि भगवान्‌का संकल्प होता है।

यदि व्यक्तित्वभावापन्न शक्ति अज्ञानसे मुक्त मनकी शक्ति हो तो ऐसी परिच्छिन्नता, कामनाकी ऐसी आवश्यकता नहीं होगी। कारण जो मन अतिमनसे पृथक् नहीं है, जो मन दिव्य ज्ञान रखता है वह अपने प्रत्येक कर्मके उद्देश्य, क्षेत्र और अन्तिम परिणामको जानेगा और लालसा एवं संघर्ष नहीं करेगा अपितु उतनी सुनिश्चित शक्तिका प्रयोग करेगा जो कि तात्कालिक लक्ष्यकी प्राप्तिके लिए पर्याप्त होगी। वह मन वर्तमानसे परे जायगा, ऐसे कर्मोंको करेगा जिनका फल तत्कालमें अभिप्रेत न हो, किन्तु वह कामना और परिच्छिन्नताके आधीन नहीं होगा। कारण भगवान्‌की असफलतायें भी उसकी सर्वज्ञानमयी सर्वशक्तिकी क्रियायें हैं; वह सर्वज्ञानमयी सर्वशक्ति अपने संपूर्ण विश्व क्रियाओंके प्रारंभ और परिवर्तनके ठीक समयको और तात्कालिक और अन्तिम परिणामको जानती है। ज्ञानवान् मन दिव्य अतिमनके साथ युक्त होनेके कारण इस ज्ञानमें और इस सर्वनियामिका शक्तिमें भाग लेगा। परन्तु हम देख चुके हैं कि व्यक्तित्वभावापन्न प्राण-शक्ति यहां व्यक्तित्वभावकारक और अज्ञ मनकी शक्ति है, ऐसे मनकी शक्ति है जो कि अपने अतिमनके ज्ञानसे च्युत हो गया है।

इसलिए जीवनमें उस व्यक्तित्वभावापन्न शक्तिके संबंधोंके लिए अशक्तिका होना आवश्यक और अनिवार्य है; कारण अज्ञ शक्तिकी व्यावहारिक सर्वशक्तिमत्ता परिमित क्षेत्रमें भी कल्पनातीत है; क्योंकि उस क्षेत्रमें वह शक्ति अपने आपको दिव्य सर्वज्ञानमयी सर्वशक्तिकी क्रियाके विरोधमें उपस्थित करेगी और वस्तुओंके निश्चित स्थिर प्रयोजनको अस्थिर कर देगी–यह विश्वकी असंभव परिस्थिति है। अतः परिमित शक्तियोंका सहज या सचेतन कामनाके प्रेरक वेग के वश संघर्ष करना और उस संघर्षके द्वारा अपने बलकी वृद्धि करना प्राणका पहला विधान है। जैसा कामनाके विषयमें है वैसा ही इस संघर्षके विषयमें भी है।

इस संघर्षको परस्पर सहायक बल परीक्षणका रूप धारण करना चाहिये; यह भ्रातृशक्तियोंका सचेतन मल्लयुद्ध है; इसमें विजयी और विजित, अथवा जो ऊपरसे क्रिया करके प्रभावित करता है और जो नीचेसे प्रतिरोध करके प्रभावित करता है वे दोनों ही समान रूपमें लाभ उठाते हैं और अपना वर्धन करते हैं और अन्तमें यह संघर्ष दिव्य आदान प्रदानका सुखप्रद संसर्ग हो जाएगा, संघर्षके विक्षोभजनक मिलनके स्थानपर प्रेमका सोत्साह मिलन हो जाएगा। परन्तु फिर भी संघर्ष आवश्यक और हितकारी प्रारंभ है। मृत्यु, कामना और संघर्ष विभक्त जीवनके त्रिक हैं, दिव्य प्राण-तत्त्वके विश्वमें आत्म-दृढ़ीकरणके प्रथम प्रयासमें तीन रूप हैं।

अध्याय २१

प्राण का आरोहण

प्र देवत्रा ब्रह्मणे गातुरेतु अपो अच्छा मनसो न प्रयुक्ति ।
अग्ने दिवो अर्णमच्छा जिगास्यच्छा देवाँ ऊचिषे धिष्ण्या ये ।
या रोचने परस्तात्सूर्यस्य याश्चावस्तादुपतिष्ठन्त आपः ॥

ऋग्वेद १०।३०।१ ॥ ऋग्वेद ३।२२।३ ॥

तृतीयं धाम महिषः सिषासन्त्सोमो विराजमनु राजति ष्टुप् ।
चमूषच्छ्येनः शकुनो विभृत्वा गोविन्दुर्द्रप्स आयुधानि बिभ्रत् ।
अपामूर्मिं सचमानः समुद्रं तुरीयं धाम महिषो विवक्ति ॥ ऋग्वेद ९।९६।१८-१९॥
इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम् । समूळ्हमस्य पांसुरे ॥
त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः । अतो धर्माणि धारयन् ॥
विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे । इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥
तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः । दिवीव चक्षुराततम् ॥
तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते । विष्णोर्यत् परमं पदम् ॥ ऋ. १।२२।१७-२१॥

वाणीका पथ देवोंकी ओर ले जाय, मनको क्रियाके द्वारा जलोंकी ओर चलो। हे अग्ने! तू द्युलोकके समुद्रकी ओर जाती है, देवोंकी ओर जाती है; तू उन स्तरों (लोकों) के, उन जलोंके देवोंको एक साथ मिलाती है जो कि सूर्यसे ऊपर ज्योति-मंडलमें हैं और जो जल कि सूर्यसे नीचे हैं।

आनन्दका प्रभु तीसरे धामको जीतता है; वह विराट् पुरुषके अनुसार स्थित रहता है और शासन करता है; बाणके समान, चीलके समान वह पात्र (आधार) के ऊपर बैठता है और उसे ऊपर उठाता है; ज्योतिकी प्राप्तिके रूपमें वह चतुर्थ धामको प्रकाशित करता है और उस समुद्रसे संसक्त होता है जो कि उन जलोंसे ऊर्मिमान है।

विष्णुने तीन बार पदप्रक्षेप किया और अपने पदको प्राथमिक धूलिसे ऊपर उठा हुआ रखा। विष्णुने, जो कि रक्षक और अदम्य है, तीन पदोंको रखा है और वह उनके धर्मों (विधानों) को अपने परमपद (दिव्य धाम) से धारण करता है। विष्णुके कर्मोंका निरीक्षण करो और देखो कि उसने कहांसे उनके धर्मोंको अभिव्यक्त किया है। विष्णुका वह परम उच्चतम (पद) है जिसे ऋषिगण सदा इस रूपमें देखते हैं जैसे कि द्युलोकमें चक्षु विस्तृत हुआ हो; विष्णुका जो परमपद है उसे उल्लासित, जागृत ऋषि ज्वालाके रूपमें प्रदीप्त करते हैं।

हम यह देख चुके हैं कि विभक्त मरणधर्मा मन, जो कि परिच्छिन्नता, अज्ञान और द्वन्द्वोंका जनक है अतिमनका ज्योतिर्मयी ब्राह्मी चेतनाका केवल एक अन्धकारमय रूप, विकृत रूप है; अतिमन, ब्राह्मीचेतना जब अपने आत्म-प्रतिषेधके साथ, जिस आत्म प्रतिषेध (जड शक्ति) से कि हमारे विश्वका प्रारंभ होता है, अपना प्रथम संपर्क करता है तो उनमें यह मन द्वार होता है। इसी प्रकार प्राण, जैसा कि वह हमारे भौतिक विश्वमें उद्भूत होता है, विभाजक मनकी एक शक्ति है, भौतिक द्रव्यमें अव-चेतन, अवमग्न, बद्ध है, वह मृत्यु, भूख और अशक्तिका जनक है; यह प्राण उस ब्राह्मी अतिचेतन शक्तिका एक अन्धकारमय रूप, विकृत रूप है जिसके उच्चतम रूप हैं अमृतत्व, तृप्ति, आनन्द और सर्वशक्तिमत्ता। जड विश्वमन एवं अतिमनका और जड विश्व प्राण एवं अतिचेतनका यह सम्बन्ध उस महान् वैश्वकर्मके स्वभावको निर्धारित करता है जिसके कि हम एक अंग हैं; यह हमारे विकासके प्रथम, मध्यम और अन्तिम रूपोंको निर्धारित करता है।

प्राणके प्रथम रूप हैं विभक्त, शक्ति-चालित अवचेतन इच्छा और अशक्ति। इनमें जो अवचेतन इच्छा है उसका इच्छा-रूप प्रकट नहीं होता अपितु वह भौतिक शक्तिकी मूक प्रेरणा-रूप होती है। अशक्ति है— रूप और उसके

वातावरणके बीचमें आदान-प्रदानका संचालन करनेवाली जड़ शक्तियोंके प्रति निश्चेष्ट आधीनता। महाशक्तिकी यह निश्चेतना और यह अन्ध परन्तु बलशाली कर्म ही भौतिक विश्वका वह रूप है जिसे कि भौतिक वैज्ञानिक देखता है, विश्वके पदार्थों विषयक अपनी इस दृष्टिको वह सर्वत्र फैला देता है और तदनुसार इस निश्चेतना और अन्ध कर्मको वह विश्वकी सम्पूर्ण आधारभूत सत्ता (मूल कारण) मान लेता है। उसके अनुसार जड़ द्रव्यकी यही चेतना है और भौतिक जीवनकी यही सिद्ध (पूर्ण) अवस्था है।

परन्तु जब प्राण अपने आपको इस भौतिक रूपसे उन्मुक्त करता है और सचेतन मनकी ओर विकसित होने लगता है तब एक नवीन संतुलन आता है, नवीन रूप-श्रेणी प्रकट होती है; और जितना अधिक प्राण अपने आपको भौतिक रूपसे उन्मुक्त करता जाता है और सचेतन मनकी ओर विकसित होता जाता है उतना ही अधिक ये संतुलन और रूपश्रेणी बढते जाते हैं; कारण प्राणके मध्यवर्ती रूप हैं मृत्यु और परस्पर भक्षण, भूख और सचेतन कामना, परिच्छिन्न स्थान और शक्तिका भाव और वर्धन करने, विस्तार, विजय और अधिकार करनेके लिये संघर्ष ये तीन रूप विकासकी उस भूमिकाके आधार हैं जिसे कि डारविन वादने मानव ज्ञानके लिए सर्व प्रथम स्पष्ट किया है। कारण स्वयं मृत्युमें अतिजीवनके लिए संघर्ष अन्तर्गत रहता है, क्योंकि मृत्यु जीवनका एक ऐसा निषेधात्मक रूप है जिसमें कि प्राण अपनी भावात्मक सत्ताको अपनेसे छिपा लेता है और उसे अमरताकी खोजके लिए प्रेरित करता है।

भूख और कामनामें तृप्ति और सुरक्षाकी अवस्थाके लिए संघर्ष अन्तर्भूत रहता है; क्योंकि कामना केवल एक ऐसी उत्तेजना है कि जिसके द्वारा प्राण अपनी भावात्मक सत्ताको यह प्रेरणा देता है कि वह अतृप्त भूखकी निषेधात्मक अवस्थासे ऊपर उस अवस्थाकी ओर उठे जिसमें सत्ताके आनन्दपर पूरा अधिकार रहता है। परिच्छिन्न शक्तिकी अवस्थामें विस्तार, प्रभुत्व और अधिकारके लिए, आत्मापर अधिकार और वातावरणपर विजयके लिए संघर्ष रहता है; क्योंकि परिच्छिन्नता और त्रुटि केवल ऐसे निषेध हैं जिनके द्वारा प्राण अपनी भावात्मक सत्ताको यह प्रेरणा देता है कि वह उस पूर्णताका अन्वेषण करे जिसके लिए कि वह सदा समर्थ है।

जीवनके लिए संघर्ष केवल अतिजीवनके लिए ही संघर्ष नहीं है, अपितु अधिकार करने और पूर्ण होनेके लिए भी संघर्ष है; कारण वातावरण पर अधिकार करनेसे ही अतिजीवन सुरक्षित रह सकता है, फिर चाहे यह अधिकार कम हो या अधिक, चाहे अपने आपको उसके अनुकूल करनेसे हो या उसे अपने अनुकूल करनेसे, चाहे उसे स्वीकार करनेसे और उसके साथ मेल करनेसे हो या उसपर विजय प्राप्त करनेसे और उसमें परिवर्तन करनेसे हो और साथ ही यह भी समान रूपमें सत्य है कि केवल महत्तर और महत्तर पूर्णत्व ही निरन्तर रहनेवाले स्थायित्वको, सदा बने रहनेवाले अति जीवनको सुनिश्चित कर सकता है। यही वह सत्य है जिसे डारविनवाद ने "योग्यतमका अतिजीवन" इस सिद्धान्त सूत्रमें व्यक्त करनेका प्रयास किया है।

परन्तु हम यह देख चुके हैं कि जड़ द्रव्य और उसमें छिपी हुई जड़ चेतनाके अनुरूप जड़ सिद्धान्तके वैज्ञानिक मनने प्राणके क्षेत्रमें विस्तार किया है; उसने यह नहीं देखा कि प्राण एक नवीन तत्त्व है जिसका कि अस्तित्व ही इसलिए है कि वह जड़को अपने आधीन करे। ऐसी प्रकार डारविनके सिद्धान्त-सूत्रका उपयोग प्राणके आक्रमक सिद्धान्तके, व्यक्तिकी प्राणिक स्वार्थ परताके आत्मसंरक्षण, आत्मस्थापन और आक्रामक जीवनकी सहज बुद्धि और क्रियाके अत्यधिक विस्तार करनेमें किया गया है। कारण प्राणकी इन पहली दो अवस्थाओंमें एक नवीन तत्त्व और नवीन अवस्थाके बीज हैं और जितना जितना मन जड़ तत्त्वसे प्राणिक सिद्धान्त सूत्रके द्वारा अपने स्वधर्ममें विकसित होता जाता है उतने उतने अनुपातमें यह तत्त्व और यह नवीन अवस्था बढते जाते हैं। और जैसे प्राणके मनकी ओर विकसित होनेमें पदार्थों (स्वार्थपरक आदि) में परिवर्त्तन हो जाता है इसी प्रकार मनके अतिमन और आत्माकी ओर विकसित होनेपर सब पदार्थोंमें और भी अधिक परिवर्तन होना चाहिये।

कारण अति जीवनके लिए संघर्ष, स्थायित्वके लिए अन्तर्वेगका मृत्युके विधानसे व्याघात होता है, व्यक्तिगत जीवन अपने स्थायित्वकी अपेक्षा जातिके स्थायित्वके लिए विवश किया जाता है और उपयोगमें लाया जाता है, और इसे वह दूसरोंके सहयोगके बिना नहीं कर सकता। और सहयोग एवं परस्पर सहायताका तत्त्व, दूसरोंकी कामना,

स्त्री, संतान, मित्र और सहायककी कामना, सम्मिलित समूह सम्मिलनका अभ्यास, सचेतन भावसे मिलन और आदान प्रदान ऐसे बीज हैं जिनसे कि प्रेमतत्व पुष्पित होता है।

हम यह मान लेते हैं कि प्रारम्भमें प्रेम केवल एक विस्तृत स्वार्थपरता ही हो सकती है और विस्तृत स्वार्थ-परताका यह रूप विकासकी ऊची भूमिकाओंमें भी विद्यमान और प्रधान बना रह सकता है, जैसा कि वह अभी तक है। परन्तु फिर भी जब मन विकसित होता है और वह अधिकाधिक अपने स्वधर्मको प्राप्त करता है तो वह जीवन, प्रेम और परस्पर सहायताके अनुभवसे यह देखने लगता है कि व्यक्तिमें प्रकृति निर्मित जो वस्तु है वह सत्ताका एक क्षुद्र रूप है और उसका अस्तित्व ऐश्वरसत्तासे है। एक बार जब यह आविर्ज्ञात हो जाता है, जैसा कि यह मनुष्यक द्वारा जो कि मनोमय प्राणी है अनिवार्य रूपमें आविर्ज्ञात होता है, तो उसका भविष्य निर्णित हो जाता है, कारण इस समय वह ऐसे बिन्दुपर पहुच गया है जहांपर कि मन इस सत्यके प्रति उन्मीलित होने लगता है कि कोई पदार्थ उससे ऊपर है, इस क्षणसे उसका विकास, चाहे वह धुधला और मन्द गतिवाला ही क्यों न हो, किसी पात्र तत्वकी ओर, आत्माकी ओर, अतिमनकी ओर, अतिमानवताकी ओर अनिवार्य रूपमें पूर्व-नियत हो जाना है।

अत प्राणका स्वभाव इस प्रकारका है कि जिसके कारण एक तीसरी भूमिकाका, तीसरी श्रेणीके रूपोंका विकास करना उसके लिए पूर्वनिर्दिष्ट है। यदि हम प्राणके इस आरोहणकी परीक्षा करें तो हम देखगे कि उसके वास्तविक विकासके अन्तिम रूप, जिसे कि हमने उसकी तीसरी भूमिका कहा है। उसके रूप, उसको प्रथम अवस्थाओंके आपातत व्याघात और विरुद्ध किन्तु यथार्थमें परिपूर्णता और रूपान्तर होने चाहिये। प्राण जड द्रव्यके चरम विभागों और कठोर रूपोंसे प्रारम्भ होता है और इस कठोर विभागका परमाणु जो कि समस्त जडरूपका आधार है, आदर्श रूप है। परमाणु दूसरोंके साथ संयुक्त होकर भी सभी दूसरोंसे पृथक् रहता है; वह किसी भी साधारण शक्तिके दबावमें आकर मृत्यु और विलयको स्वीकार नहीं करता वह पृथक अहका ऐसा भौतिक प्रतिरूप है जो कि प्रकृतिके अपनेमें मिश्रण करनेवाले तत्वके विरोधमें अपने अस्तित्वको पृथक खडा रखता है।

परन्तु प्रकृतिमें ऐक्य तत्त्व भी वैसा ही बलवान् है जैसा कि विभाग-तत्व। वास्तवमें तो ऐक्य-तत्व ही प्रधान है और विभाग तत्व उसका केवल एक अप्रधान रूप है, इसलिए प्रत्येक विभक्त रूपको, जड आवश्यकतासे, विवशता, अनुमोदन या पुरोचनाके द्वारा, किसी न किसी रूपमें अपने आपको ऐक्य-तत्वक आधीन कर देना होता है। इसलिए प्रकृति, एक ओर अपने उद्देश्योंके लिए, मुख्यतया अपने सघातोंके वास्त दृढ आधारके लिए ओर रूपोंके स्थिर बीजोंके लिए, परमाणुको अनुमति देती है कि वह विलयक द्वारा मिश्रणकी क्रियाका साधारणतया प्रतिरोध करे दूसरी ओर वह उसे विवश करती है कि वह सयोगके द्वारा मिश्रणकी क्रियाके आधीन हो, परमाणु जहां पहिला सयुक्त पदार्थ है साथ ही वह सयुक्त ऐक्योंका प्रथम आधार भी है। [क्रमश]

(समालोचना)

श्री आचार्य विदेहजीका वेदभाष्य

श्री आचार्य विदहजीका वेदभाष्य प्रकाशित हो रहा है, यह आनन्दकी बात है। इनकी भाष्य करनेकी शैली अच्छी, सरल तथा जटिलतासे दूर है। इस कारण हरएक वेदप्रेमीको पसन्द आनेयोग्य है। यह कोई न समझे कि फलानी रीतिसे वेदभाष्य किया तो वह अन्तिम भाष्य होगा, ऐसा नहीं है। परन्तु जो विद्वान् वेद जाननेका यत्न करता है, वह उससे जितना जाना है, उतना जनताके सामने रखे और जनताको वेदकी गहराईमें जितना पहुचा सकते हैं उतना पहुचावे। श्री आचार्य विदेहजीका भाष्य नि संदेह पाठकको वेदके सत्यज्ञानसे अधिक सुगम रीतिसे परिचित करा सकेगा। जिस चित्तैकाग्र्यसे ये वेदभाष्य कर रहे हैं, वह प्रशसनीय है। जनता इस भाष्यका स्वागत करे और उचित आर्थिक सहायता देकर यह वेदभाष्य शीघ्र प्रकाशित हो जाय ऐसा करें।

सपादक—
वैदिकधर्म

भारतीय संस्कृतिके अनुसार

भारतीय संविधानकी समालोचना

(लेखक श्री प रामावतारजी, विद्याभास्कर)

[गताङ्कसे आगे]

क्षणिक सुख सुख न होकर सुखरूपधारी दुःख होता है। क्षणिक सुख नित्य सुखका जन्म वैरी है और मनुष्यके स्थायी आनन्दको खण्डित करके वह उसे अस्थायी सुख दुःखके बन्धनमें बाधा डालनेवाला शत्रु है। आत्मस्थिति ही स्थाई आनन्दकी अवस्था है। इसे त्यागकर इन्द्रियदास बन जाना सुखदुःखरूपी परतन्त्रताको वर लेना है। मनुष्यको अपनी इन्द्रियोंका दास न बनकर उनका स्वामी बनकर रहना चाहिये। मनके लिये इन दोनोंमेंसे कोईसी एकको अपनाना तथा दूसरीको तिलांजलि दे बैठना अनिवार्य है। इन दोनोंको एक साथ नहीं अपनाया जा सकता। इनमेंसे किसी एकको न अपनाना भी असमव है।

स्वतन्त्रता परतन्त्रताका रहस्य मनुष्यकी स्वाभाविक विचार शक्तिके सत्यासत्य या उचित अनुचित उपयोगमें छिपा हुआ रहता है। जब तक मनुष्य यह नहीं पहचान लेता कि मैं कौन हू ? लोग क्या हैं ? तथा उनसे मेरा क्या सम्बध है ? तब तक मनुष्यकी विचारशक्ति निर्मल नहीं हो सकती। विचारशक्ति ही मनुष्यको स्वतन्त्रतारूपी आनन्द प्राप्त कराती है। इसलिये जो स्वतन्त्रतारूपी आनन्द पाना चाहे वह अपनी विचार शक्तिको निर्मल करे।

स्वतन्त्र हो जाना ही ' देश प्रेम ' है। अपने आपको स्वतन्त्र कर चुकनेवाला मनुष्य जिस समय जहा रहता है वहीं उसका स्वतन्त्र देश बन जाता है। स्वतन्त्र मनुष्य पहले बनता है, स्वतन्त्र देश उसके पीछे बनते हैं।

स्वतन्त्रताका मौलिक रूप व्यक्तिगत होता है। अपने देहादिको अनिच्छापूर्वक दूसरेके धन मान या यशका साधन न बनने देना अपनी स्वतन्त्रता है। संसारकी कोई भी शक्ति मुझे अपने धन मान या यशका साधन नहीं बना सकती, इस प्रकारका दृढ निश्चय ही मनुष्यकी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता है।

समाजने स्वतन्त्र व्यक्तियोंसे ही स्वतन्त्रताका पाठ सीखा है। स्वतन्त्रता किसीके पीछे चलकर या औरोंको अपने पीछे चलाकर पानेकी वस्तु नहीं है।

देशप्रेम

अपने स्वरूपको अपनी इन्द्रियातीत मनोभूमिमें सुप्रतिष्ठित रखना ' देशप्रेम ' है। अपना अपना कर्मक्षेत्र ही अपना अपना देश है। ज्ञानीका सबसे पहला देश उसीका मन है। ज्ञानी सबसे पहले अपने मनमें कर्म करता है। वह मनमें कर्म कर चुकनेपर ही कर्मको बाह्य रूप देता है। वह अपनी मनोभूमिमेंसे अपने ज्ञानमय रूपको कभी भी नहीं हटने देता। यही उसका ' देश प्रेम ' है। जिसे अपनी इस मनोभूमि रूपी देशसे प्रेम नहीं होता वह बाह्यदेशसे भी प्रेम नहीं कर सकता। ज्ञानको तो विजय दिलवाना तथा अज्ञान और अत्याचारको पराजित करवाना ही ' देश प्रेम ' है। अज्ञानसे बचकर ज्ञानमयी स्थितिको विजय दिलाना ' देश प्रेम ' है। वासस्थानके साथ साथ कर्तव्यका कोई न कोई सम्बन्ध स्थापित हो जाना है। कर्तव्यके सबन्धवाला स्थान ही ' देश ' कहाता है। अपना कर्मक्षेत्र ही अपना देश कहा जाता है। देशके प्रति अपने कर्तव्य पालना ही ' देश प्रेम ' कहाता है। परन्तु यह बात कभी न भूलनेकी है कि देश प्रेमका मूल क्षेत्र अपना ही मन है। अपना मन ही ' अपना देश ' है।

बात यह है कि अशुद्ध मनसे कर्तव्य नहीं पाला जाता। कर्तव्य पालनकी शक्ति केवल शुद्ध मनमें होती है। दूसरे शब्दोंमें आत्मज्ञानी लोगोंमें ही कर्तव्य पालनकी शक्ति होती है। आत्मदर्शी ही देशप्रेमी हो सकता है। अनात्मदर्शी, भोगासक्त, स्वार्थी, अज्ञानी लोग क्या जानें कि देश प्रेम कौनसे वृक्षका फल है ! ऐसे लोग देशप्रेमका हल्ला करते हुए भी सदा देशद्रोही काम करत रहते हैं।

ज्ञानियोंके सामने जब कर्तव्य आकर खडे होते हैं, तब वे उसे पालकर आत्मदर्शन करते हैं। कर्तव्यपालनसे

आत्मदर्शनका लाभ उठाना ज्ञानियोंका स्वभाव होता है। मनुष्यके जीवनमें प्रत्येक क्षण अज्ञानसे संग्राम करनेके अवसर आते रहते हैं। उन समयोंपर ज्ञानियोंका स्पष्ट कर्तव्य होता है कि वे अज्ञानसे अछूते रहकर ज्ञानमयी स्थितिको विजयशील बनाये रहें।

अपनी ज्ञानमयी स्थितिको विजयिनी बनाये रहना ही ज्ञानी लोगोंका 'देशप्रेम' या 'देशभक्ति' है। उनका आत्मप्रेम ही उनकी देशभक्ति है। इसलिये कहना पडेगा कि ज्ञानी लोग ही देशप्रेमी हो सकते हैं। इस प्रकारके देशप्रेमी लोग ही देशोंको स्वतन्त्र बना सकते हैं।

समाज

मनुष्यकी सेवाका क्षेत्र ही उसका 'समाज' कहाता है। सत्य ही ज्ञानी पुरुषसे सेवा लेनेवाला 'समाज' है। सत्यकी सेवा ही 'समाजकी सेवा' है। जिन लोगोंके साथ मनुष्यका कर्तव्यका संबन्ध होता है, वे सब समाज कहाते हैं। प्रत्येकका कोई न कोई समाज होता है। बिना समाजके मनुष्यका होना असम्भव है। समाजमेंसे उत्पन्न होना और जीवनभर समाजसे संबद्ध रहना मनुष्यके लिये अनिवार्य है। मनुष्यके मर जानेके पश्चात् उसके जीवनका अनुभव इसके समाजमें सुरक्षित रह जाता है। समाज मनुष्योंके ज्ञानको संग्रहित रखनेवाला 'अमर पुस्तकालय' या 'अमर ज्ञान ग्रन्थ' है। समाजके लोग ज्ञानी हों तो उनका अनुभव ज्ञानके रूपमें उनके समाजमें प्रकट होकर समाजवासियोंको अमृत पिलाता रहता है। यदि समाजके लोग अज्ञानी हों तो उनका अनुभव अज्ञानके रूपमें समाजमें प्रकट होता है और दिनरात समाजको दहता रहता है।

इसलिये मनुष्यको चाहिये कि वह समाजके साथ अपने कर्तव्य पालनके सम्बन्धको उत्तरदायित्वके साथ पूरा करे। ऐसा करनेसे उसका और समाजका दोनों ही का कल्याण होता है। नहीं तो दोनोंका अकल्याण होता है। दोनोंका अकल्याण दोनोंकी ही मौत है। जिस देशमें समाज तथा मनुष्योंका पारस्परिक संबन्ध कर्तव्यपालनसे सुरक्षित नहीं रखा जाता, वहांके मनुष्य और समाज दोनों निस्तेज और मृत हो जाते हैं।

समाजके साथ मनुष्यका जीने-मरनेका सबन्ध है। समाज ज्ञानी हो तो उसमें जन्म लेनेवाले लोग ज्ञानामृतके अधिकारी रहकर कर्तव्यनिष्ठ जीवन बिताते और यदि समाज अज्ञानी हो तो उसमें जन्म लेनेवाले लोग अज्ञानरूपी हालाहल पीकर जीवन मृत जीवन बिताते हैं। इसीको 'मनुष्य और समाजका जीवन-मरणका सम्बन्ध' कहा जाता है।

मनुष्योंके व्यक्तिगत जीवनोंसे समाजका सामूहिक जीवन बनता है। मनुष्योंके व्यक्तिगत जीवन जिस प्रकार के होते हैं वैसा ही समाजका जीवन बन जाता है। व्यक्तिगत जीवनके पवित्र और उच्च होनेपर सामाजिक जीवन भी पवित्र और उच्च हो जाता है। व्यक्तिगत जीवनके अपवित्र तथा नीचे होनेपर सामाजिक जीवनका भी अपवित्र और नीच हो जाना अनिवार्य है। इन दृष्टियोंसे समाजगठनका उत्तरदायित्व माननेवाले लोगोंको समाजका बालचरित्र सुधारनेमें अविलम्ब लगना चाहिये। समाजका निर्माण मनुष्योंके बाल्यावस्थाके व्यक्तिगत जीवनोंके भलेबुरेपनपर निर्भर होनेसे मनुष्यके व्यक्तिगत जीवनोंका जो महान उत्तरदायित्व है उसे समाजके प्रत्येक मनुष्यको जानना चाहिये और अपने व्यक्तिगत जीवनको सत्यके कठोर शासनमें रखना चाहिये। मनुष्योंको अपने व्यक्तिगत जीवन इस प्रकार बिताने चाहिये जिससे सामाजिक बन्धनमें शिथिलता न आने पावे, प्रत्युत वह उत्तरोत्तर दृढ होता चला जाय।

अपने समाजनिर्माता व्यक्तिगत महान् उत्तरदायित्वको समझ लेना ही 'ज्ञान' है। ज्ञानी लोग अपने आपको मूर्ख समाजका अंग नहीं मानते। वे तो अपनेको आदर्श समाजका अंग मानते और सब प्रकारकी विघ्नबाधाओंको परास्त करके सत्यकी सेवा करते रहते हैं।

सत्यकी सेवा ही 'समाज-सेवा' है। सत्य ही ज्ञानियोंसे सेवा लेनेवाला 'समाज' है।

सेवा

अपने मनपर ससारी निर्बलताओंका प्रभाव न पडने देना 'सेवा' है। सेवा दूसरेकी नहीं होती। सेवा अपनेसे भिन्नकी नहीं की जाती। सेवा अपनी ही होती है। सेवा अपने ही उदार गुणोंकी होती है। सेवा अपने ही सिद्धान्तकी होती है। सेवा अपने ही प्रभुकी होती है। अपना स्वरूप, अपने सिद्धान्त, अपने सुविचार ही अपने

प्रभु हैं। अपने स्वरूपसे भिन्न अपना कोई भी प्रभु नहीं है। अपने स्वरूपको अपने कर्तव्यपालनसे अपने ऊपर रिझाकर रखना ही ' सेवा ' है।

इस प्रकारके समर्पणसे सेवक और सेव्य दोनों एक हो जाते हैं। इस समर्पणमें मनुष्यके प्रभुका कर्तापन विजयी बन जाता है और मनुष्यका क्षुद्र अहं पराभूत होकर पूर्ण अहंमें विलीन होकर पूर्णानन्दस्वरूप बन जाता है। यहां पहुंचकर सेवक अपने आपको ही अपना सेव्य पाता है।

निष्कर्षमें सेवाका रूप यह ठहरा कि शरीरमें रहनेवाला मन विषयरूपी असत् पदार्थोंकी लालचमें न फसे, किन्तु आत्मरूपी सत्यकी सेवामें समर्पित हो जाये, यही सेवा है।

कुटुम्ब

निकट संबन्धी कुटुम्ब कहाते हैं। यह सारा ही संसार विचारशीलका कुटुम्ब है। विचारशील मनुष्यका सभीके साथ स्वरूप संबन्ध है। वह सभीका निकट संबन्धी है। विचारशील मनुष्य विश्वपरिवारका पारिवारिक है।

मनुष्य जन्म लेते ही सबसे पहले माता पिताकी गोदमें उतरता है। उनके साथ उसका स्वाभाविक संबन्ध है। स्वाभाविक संबध कल्याणका संबंध होता है। माता पिता सन्तानका कल्याण करनेके उत्तरदायी और अधिकारी हैं। ईश्वर ही माता-पिता बन जाता है। संसारी माता पिता जगत्पालक ईश्वरके प्रतिनिधि बनकर सन्तानोंको पालते हैं। ईश्वरने ही माता-पिताके मिषसे जगत्पालनका प्रबन्ध किया है।

पारस्परिक कल्याणका सम्बन्ध रखनेवाले परस्परमें कुटुम्ब कहाते हैं। मनुष्यको कौटुम्बिक उत्तरदायित्वके अनर्थसे बचे रहनेके लिये कल्याणके स्वरूपको ठीक ठीक समझना चाहिये और अनर्थकारी पारिवारिक उत्तरदायित्वसे बचना चाहिये। पारिवारिक उत्तरदायित्व कल्याणके संबंध तक ही चलना चाहिये। अपने परिवारको अपने स्वार्थका साधन नहीं बनाना चाहिये। जैसा कि साधारण संसार करता है। जैसा करना परिवारका दुरुपयोग है। परिवार मनुष्यको इसलिये मिलता है कि वह अपनी मनुष्यताको व्यवहारादिक रूप दे। मनुष्य अपने परिवारकी उचित सेवा करता हुआ अपनेको विश्व परिवारके पारिवारिक रूपमें देखनेकी योग्यता पा जाता है। परिवार मनुष्यको ऊंचा उठानेके लिये मिली हुई प्राकृतिक प्रयोगशाला है। वह उसे मोहमें उलझाकर नीचा बन जानेके लिये नहीं मिला। इसलिये परिवारको स्वार्थका साधन न बनने देकर उसे अपने परमार्थ साधनका क्षेत्र बनाकर रखना चाहिये। एक दूसरेको अपनी स्वार्थपरताका साधन बनाना तो मोह है। अपने कुटुम्बवालोंके साथ कल्याणका सम्बन्ध न रखकर मोहका संबन्ध रखना अपना और कुटुम्बका दोनोंका कल्याण करना है। अकल्याणको कल्याण समझ बैठना अज्ञान है।

सृष्टि-व्यवस्थाने मनुष्यको कुटुम्बके साथ स्वाभाविक संबन्धमें इसलिये जोडा है कि मनुष्य अकल्याणको कल्याण समझनेकी भ्रान्ति छोडना सीखे और आंखें खोले। मनुष्यको अपने कौटुम्बिक संबन्धके गूढ अभिप्रायको समझकर इस संबन्धका पूर्ण सदुपयोग करना चाहिये। उसे कुटुम्बके मोहमें न रहकर उसके साथ केवल कल्याणका संबन्ध जोडकर रहना चाहिये।

विचारवान लोग माता पिता तथा कुटुम्बियोंको माता पिता तथा कुटुम्बके रूपमें नहीं देखते। वे तो उन्हें ईश्वर या उसके प्रतिनिधिके रूपमें देखते और उनके साथ ईश्वर बुद्धिसे व्यवहार करते हैं। वे घरवालोंके साथ व्यवहार करते समय ईश्वरप्राप्तिका महालाभ उठाकर अपना जीवन धन्य बना लेते हैं। वे पुत्र, कन्या, पति, पत्नी आदि परिवारिकोंमें ईश्वरको ही मानवलीला करता देखकर निर्मम निर्मोह जीवन बिताते हैं।

जिसे अपने कुटुम्बमें सर्वभूतस्थ ईश्वर दीख चुकता है यह समस्त जगत उसका कुटुम्ब हो जाता है। वह अपने आपको तथा सकल भूतोंको एक ही विश्वपरिवारके पारिवारिक रूपोंमें देखने लगता है।

जो मनुष्य इतना विचारशील बन जाता है उसके मनमें मोह लोभ वैर विरोध आदि समाजदूषक दुर्गुण स्थान नहीं पा सकते। वस्तुतः मनुष्य विश्वपरिवारका पारिवारिक बनना सीखने ही के लिये पारिवारिक सम्बन्धमें उतरा है।

समाज—धर्म

सत्य मनुष्यका स्वरूप है। मनुष्य अपनी अविचारशीलतासे इस स्वरूपभूत संपत्तिसे सपत्तिमान रहना भूलकर अस्थिर पदार्थोंको अपनी संपत्ति बनाना चाहता और स्वयं उनका स्वामी बनना चाहता है। संसारके अस्थिर पदार्थ

उसकी व्यक्तिगत अस्थिर सम्पत्ति है। सत्य ही मनुष्य समाजकी सार्वजनिक संपत्ति है। मनुष्य सत्य नामवाली इस स्वरूपभूत संपत्तिको ही अपने अधिकारमें रख सकता है। यदि वह अपने विश्वात्मके प्रति सच्चा हो तो संसारकी कोई भी शक्ति उसे उसकी इस सच्ची संपत्तिसे वंचित नहीं कर सकती। सत्यरूपी यह संपत्ति ईर्ष्या, विवाद, कलह, अपहरण आदि समस्त साम्पत्तिक दोषोंसे हीन विशुद्ध और निर्लेप है। दूसरी सम्पत्तियोंके साथ ईर्ष्या, विवाद, कलह, अपहरण आदि दोष नियमसे लगे रहते हैं। मनुष्य और मनुष्य समाज अपने जीवनमें इस सार्वजनिक संपत्ति रूपी सत्यको अपना ले यही उसका "समाज धर्म" है। सत्य ही "समाज धर्म" है। मनुष्य समाजके जितने भी धर्म हैं वे सबके सब सत्यकी उदरदरीमें समाये हुये हैं। अपने जीवनको सत्यके अनुकूल बिताना ही समाज धर्म पालना है।

अपने व्यक्तिगत जीवनमें सत्यको सुरक्षित रखनेपर ही समाज-धर्मका पालन होता है। मनुष्यके व्यक्तिगत जीवनमें सत्यको सुरक्षित रखनेका यह अवश्यंभावी परिणाम होता है कि उससे मनुष्यका व्यक्तिगत भ्रान्त अधिकार लुप्त हो जाता है और उसकी अपनायी भौतिक संपत्तियोंके ऊपर सत्यनारायणका अधिकार प्रतिष्ठित हो जाता है। जिस शुभ दिन मनुष्यकी भौतिक संपत्तियोंके ऊपर सत्य सम्राटका एकच्छत्र अधिकार प्रतिष्ठित होता है उस दिन मानवका जीवन धन्य हो जाता है और उसके जीवनके समस्त कर्मोंमें अनासक्तिरूपी शक्तिकी अमृतधारा बहने लगती है।

स्थूल दृष्टिसे देखनेपर तो मनुष्य इस संसारमें व्यक्तिगत रूपमें रहता दिखाई देता है, परन्तु तात्विक दृष्टिसे देखनेपर तो वह इस संसारमें सामाजिक रूपमें ही रह रहा है। वह सामाजिक सम्बन्धों और कर्तव्योंसे, पानीसे अलग होते ही जीवित न रह सकनेवाली मछलीके समान इतना संबद्ध है कि उससे अलग हो ही नहीं सकता। मनुष्यको अपना यही सामाजिकरूप पहचानना है और व्यक्तिगत सांपत्तिक मोहको त्यागकर सामाजिक सपत्तिसे सम्पन्न बननेके प्रयत्न करने हैं। मनुष्य इस संसारमें व्यक्तिगत रूपमें रहता दीखनेपर भी वह वास्तवमें अपने समाजसे पृथक् नहीं है। वह समाजका अच्छेद्य अंग है। मनुष्यके साथ उसके माता पिता, परिवार, स्वजन, बान्धव, मित्र, ग्राम, देश, संसार तथा यह विशाल सृष्टि किसी न किसी रूपसे संबद्ध है। संबद्ध होनेका अर्थ यही है कि मनुष्यके इन सबके सम्बन्धमें कर्तव्य है। इन सबके संबन्धमें मनुष्यके जो कर्तव्य हैं वेही "मनुष्यकी सामाजिक स्थिति" है। दूसरे शब्दोंमें यह सारा ही संसार मनुष्यका एक विराट कर्मक्षेत्र है। मनुष्यको इस समस्त सृष्टिको अपने कर्मक्षेत्रके रूपमें समझना है और इसके सम्बन्धमें कर्तव्य करने हैं।

इस दृश्यमान समस्त संसारको अपनी कर्मभूमि समझ जाना और इस सबके हिताहितसे अपने हिताहितकी एकता कर लेना ही "मनुष्यकी सामाजिकता" है। मनुष्यके अपने परिजनोंके साथ साथ संसारभरके साथ कर्तव्यके ऐसे संबन्ध हैं जो उसके जीते जी कभी भी उससे अलग नहीं हो सकते। जहां जिसका सबन्ध है, वहीं उसका कर्तव्य है। संबन्धसे ही कर्तव्यकी सृष्टि होती है। इन सबके प्रति मनुष्यके और मनुष्यके प्रति इन सबके कर्तव्य सदा ही लगे रहते हैं, यह बात कौन विचारशील नहीं जानता? कर्तव्य दिनरात मनुष्यके पास लगातार आ रहे हैं और उसे कर्तव्य पालनके अवसर दे देकर या तो ज्ञानी या अज्ञानी बननेके अवसर दे रहे हैं। जैसे हमारा समाज अपना कर्तव्य पालन करके हमें लाभ पहुंचा रहा है वैसे ही हमारा भी कर्तव्य है कि हम भी अपना कर्तव्यपालन करके अपने समाजको लाभ पहुंचावें। अर्थात् हम भी समाजके सामूहिक कल्याणमें अपने भोगकी आहुति डालें। यों समाज हमें बढावे, हम समाजको बढावें और गीताके 'परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ" के अनुसार एक दूसरेको बढाकर दोनों अनन्त शान्ति पावें और जीवनको सफल करें।

जिन्हें अपना सामाजिक स्वरूप स्पष्ट समझमें आ गया हो वे समाजसेवक लोग अपने जीवनमें आनन्दामृतकी विमल धारा प्रवाहित करनेके लिये, पहले तो अपनी कल्पनामें आदर्श समाजको घडकर खडा कर लें और फिर सारे समाजको उसी ढंगमें ढालनेका प्रयत्न कर लेनेमें अपना समस्त जीवन लगा डालें। विचारशील समाज सेवक लोग मूढ तथा स्वार्थी समाजकी सेवा नहीं करते। वे उसके घरोंमें झाडू लगाते नहीं फिरते। वे तो केवल अपनी कल्पनाके आदर्श समाजकी ही सेवा करते हैं।

दूसरे शब्दोंमें वे केवल देशका मनोबल या चरित्रबल बढानेकी ओर ही ध्यान देते और इसीसे राष्ट्रके अंग प्रत्यंग सुधरनेकी आशा और विश्वास करते हैं।

जब मनुष्य जन्म लेता है तब समाजकी सारी शक्तियां उसकी सहायता करने लगती हैं और अन्तमें उसे पाल पोसकर कर्मक्षम मनुष्य बना डालती हैं। मनुष्य कभी किसी कारण अपने समाजसे पृथक् हो जानेपर भी अपने ही समाजकी भाषामें सोचता है और समाजसे प्राप्त विचारोंमें ही रमा रहता है। प्रत्येक मनुष्यके ऊपर समाजका जो यह एक महान् उपकार है उसे मनुष्यको नहीं भुलाना चाहिये। किन्तु इसे ध्यानमें रखकर समाज कल्याणकारी कर्तव्योंमें पूरा सहयोग देना चाहिये। उसे सामाजिक कर्तव्य ढूंढ ढूंढ कर अपने सिर लेने चाहियें और अपने समाजको सुधारकर रखनेमें कोई बात उठा न रखनी चाहिये।

मनुष्य स्वार्थके वशमें आकर अपने समाजके महान् उपकारको भूल जाता है। जब मनुष्य अपने समाजके महान् उपकारको भूल कर स्वार्थके वशमें आकर व्यक्तिगत जीवनको मुख्यता देता है या उसे ही अपना एकमात्र जीवन-लक्ष्य बनाकर, अपने समाजके लाभहानिका ध्यान नहीं रखता तब वह इस समाजोपेक्षारूपी अपराधका उचित दण्ड भी भोगता है। वह इस समाजकी उपेक्षारूपी महापराधके दण्डस्वरूप परतन्त्र हो जाता और अपनेको समाजका शत्रु बना लेता है। यदि मनुष्य अपने जीवनकी छोटीसी छोटी घटनामें समाजके महान उपकारका ध्यान रखे कि मेरे किसी कामसे मेरे समाजकी कोई हानि न हो जाय तो वह अपने समाजका शत्रु भी न रहे और साथ ही अपना भी यथार्थ कल्याण कर ले।

स्वार्थ मनुष्यकी मनुष्यताका जन्मवैरी है। मनुष्यके जीवनका सबसे मुख्य काम मानवजातिके सौन्दर्यके निरन्तर-वैरी इस स्वार्थरूपी शत्रुको नष्ट करना है। जो मनुष्य स्वार्थरूपी शत्रुके पंजेमें फंस जाता है उसे चाहे और सारा संसार मिल जाये परन्तु उसके जीवनमेंसे शूरता, तपस्या, त्याग, आत्मसंयम, क्षमा तथा उदारता आदि ऊंचे गुण सुनिश्चित रूपसे भाग जाते हैं और वह हीन बनकर नष्ट हो जाता है। स्वार्थाक्रान्त मनुष्यका जीवन संसारकी महत्वहीन अवहेलनीय घटना बन जाता है। अपने जीवनको महान् बनाना मनुष्यका मुख्य कर्तव्य है। जीवनको महान् न बनाना ही विनष्ट हो जाना है। ऊपर न उठना ही नीचे गिर जाना है, उन्नत न होना ही अवनत हो जाना है।

जिस दिन मनुष्य यह समझ जाता है कि "मैं समाजके साथ अभेदभावसे जकड़ा हुआ हूं मैं समाजसे कोई अलग वस्तु नहीं हूं, समाजके कल्याणसे अलग मेरा कोई कल्याण नहीं है।" उस दिनसे उसकी समाजके वैरी रक्त-शोषक या उसे हानि पहुंचानेवालोंसे सदा शत्रुता रहने लगती है। अपने तथा समाजके अभेदभावको पहचाननेवाला मनुष्य समाजके शत्रुसे किसी भी प्रकारका सहयोग या समझौता नहीं कर सकता। अपनेको समाजसे तथा समाजको अपनेसे अभिन्न समझ जानेवाला मनुष्य समाज-द्रोहीके साथ सन्धिकी चर्चातक नहीं कर सकता। यदि उसके अपने ही किसी दुर्गुणसे समाजका द्रोह होता दीखता है तो सच्चे मनुष्य उसके साथ भी शत्रु जैसा कठोर बरताव करते हैं। अर्थात् वह अपने दुर्गुणको भी शत्रु मानकर उसे भी नष्ट करता है। तब ही उसे शान्ति मिलती है। तात्पर्य यही है कि समाजके साथ अपना अभेद समझ जानेवाले मनुष्यसे समाजकी हानि या उसकी हानि करनेवाली व्यक्ति या समाज नहीं सहे जाते। अन्याय ही मनुष्य समाजका सार्वजनिक शत्रु है। इस शत्रुकी शत्रुताको सहन करना मनुष्यसे-समाजसे ही शत्रुता करना होता है।

समाजसेवकका स्वधर्म यही है कि वह अन्यायको सहन न करे और स्वयं न्याय करनेवाला बनकर रहे। अन्यायीसे समाजसेवककी स्वाभाविक शत्रुता रहती है। इस अन्यायरूपी शत्रुको मिटाते रहना ही समाजसेवा है। अन्यायके प्रति उदासीनता अन्यायको ही प्रोत्साहित करना है और यह स्पष्ट रूपसे समाजद्रोह है। मनुष्यका मनुष्यपना इसी बातमें है कि वह शत्रुके प्रति क्रोधको कभी न भूले और उसे क्षमा न करनेके भावको कभी न सोने दे। मनुष्य इस सम्बन्धमें झूठे धर्मोपदेशकोंके बहकानेमें न आवे। वह यह जाने कि अन्यायके प्रति क्रोध और अन्यायीके प्रति अक्षमा ये दोनों गुण सामाजिक जीवनके अत्यन्त उपयोगी भाग हैं। अन्यायके प्रति रुद्ररूप धारण किये बिना समाजकी शान्ति किसी भी प्रकार संभव नहीं है। मनुष्य समाजमें अन्याय तथा अत्याचारके प्रतिशोधकी भावनाको जगाये रखना देशसेवकोंका गम्भीर उत्तरदायित्व

है। यदि मनुष्य मनुष्य रहना और अपने समाजको जीवित समाज रखना चाहे तो उसे समाजकी शान्ति हरनेवाले अन्यायीके प्रति उदासीनता अर्थात् उसके आगे सिर झुकाकर अन्यायमें प्रोत्साहन देनेवाला कभी न बनना चाहिये। न्याय ही समाजका प्रेमबन्धन और शक्तिकी खान है। न्याय पर चोट न आने देना समाजसेवकोंका आठोंपहरका सजग कर्तव्य है।

स्वार्थ ही मनुष्यका सबसे पहला सबसे प्रमुख वैरी है। बाहरका वैरी इतना भयानक नहीं होता, जितना हृदयस्थ होता है। हृदयस्थ शत्रु सबसे बडा शत्रु है। बाहरवाले शत्रु मनुष्यपर तब ही आक्रमण करते और तब ही उसे दबानेमें समर्थ होते हैं जब मनुष्य अपने हृदयस्थ शत्रुसे पराजय हो चुकता है। इसका भाव यह हुआ कि जब मनुष्य सामाजिक हितको भूलकर अपने व्यक्तिगत स्वार्थोंसे चिपट और लिपट जाता है तब ही बाह्य शत्रु उसपर आक्रमण करके उसे दबानेमें समर्थ होता है। स्वार्थी समाज अपनी महामूढतासे व्यक्तिगत स्वार्थोंसे चिपटा रह जाता है और उसके देखते देखते समाजका सामूहिक स्वार्थ दूसरे आक्रमणके आततायियोंके अधिकारमें चला जाता है। मनुष्यकी मूढतासे सामाजिक स्वार्थोंके दूसरोंके हाथोंमें चले जानेपर उसे अपने व्यक्तिगत स्वार्थोंकी भी वह अवर्णनीय दुर्गति देखनी पडती है, जिसे वह कभी देखना नहीं चाहता।

जिस दिन मनुष्य सच्चे अर्थोंमें स्वयं बलवान और सुखी रहनेका निश्चय करेगा उस दिन उसे सुखी रहनेके लिये जीवनका स्वार्थदूषित मार्ग त्याग देना पडेगा। उसे अपने समाजको सुखी और बलवान रखनेके लिये सबसे पहले सब दुखोंके मूल स्वार्थरूपी बन हीनताको छोडना पडेगा। यदि मनुष्यको अपने समाजको बलवान तथा सुखी रखना अभीष्ट होगा तो उसे अपनी दिनचर्यामें समाजसेवाको महत्वपूर्ण स्थान देना पडेगा और अपने व्यक्तिगत जीवनको समाजसेवाका अंग बनाकर रखना पडेगा।

मनुष्यका स्वार्थरूपी शत्रु उसके ऊपर अनेक रूपोंमें आक्रमण करता है। वह कभी क्रोध, कभी लोभ और कभी आलस्य, कभी विलासप्रियता आदि बनबनकर उसके पास आता और नाना रूपोंमें अपनी घातित्यकारी मांगे उपस्थित किया करता है। मनुष्य स्वार्थरूपी शत्रुको जब जिस रूपमें आक्रमण करता हुआ पावे उसे तब ही नष्ट करे, यही उसका पवित्र कर्तव्य है। इस पवित्र कर्तव्यको पालनेमें आत्मविश्वास तथा दृढताकी आवश्यकता है। यदि मनुष्य आत्मविश्वास तथा दृढतासे काम ले और किसी भी रूपमें अपने ऊपर आक्रमण करनेवाले शत्रुको सबसे पहले अवसरपर आत्मविश्वास तथा दृढता दिखाकर पराजित कर डाले तो उसका वह शत्रु सदाके लिये पराजित हो जावे और उसके जीवनमें अनुपम आत्मप्रसादका वह आस्वादन मिल जाय जिसकी तुलनामें स्वार्थी, स्वेच्छाचारी विलासप्रिय जीवन नरकके समान घृण्य होकर परित्यक्त हो जाये।

मनुष्य यह जाने कि उसे बुराइयोंसे सदा नहीं लडना पडता। उसे केवल एक बुराईको एक बार पददलित करनेमें थोडासा परिश्रम होता दीखता है। फिर तो सारी बुराइयां उसके आत्मविश्वास तथा दृढ निश्चयसे अपने आप पराजित होती चली जाती हैं। एक बार विजेता बननेका पक्का निश्चय कर लेने और एक रणक्षेत्र जीत लेनेपर मनुष्यको समस्त रणक्षेत्रोंपर स्वभावसे ही अधिकार प्राप्त होता चला जाता है और विजय स्थायी हो जाती है। स्वार्थको जीतना ही " समाज धर्मपालन " है। स्वार्थको न जीतनेवाला समाजधर्मको कभी नहीं पाल सकता। स्वार्थ, समाजविरोधी स्थिति है। समाजविरोधी स्वार्थरूपी इस भीतरवाले शत्रुको प्रत्येक समय पराजित रखनेसे ही समाजसेवारूपी धर्म पूर्णाङ्ग होता है और उससे मनुष्यके जीवनको धन्यता मिलती है।

[क्रमशः]

वेदोंमें शाश्वत इतिहास है।

लेखक— पं. श्रीपाद् दामोदर सातवलेकर

माननीय विद्वान प० जयदेव शर्माजीने आर्य मित्रके कई अंकोंमें 'वेदोंमें इतिहास' है या नहीं इस विषयकी चर्चा शुरू की है। इसलिये इस विषयकी मेरी अपनी धारणा सुज्ञ पाठकोंके विचारार्थ यहां लिखता हू—

इतिहासके अनेक भेद

इतिहास अनेक प्रकारका है। वेदमें इतिहास है या नहीं इसका निर्णय करनेके समय इतिहास सदृश दीखनेवाले वचनोंके अनेक प्रकार हैं, उनको ठीक तरह ध्यानमें धारण करना आवश्यक है।

प्रथम इतिहासके मुख्य दो प्रकार हैं-(१) एक शाश्वत इतिहास और (२) दूसरा अशाश्वत इतिहास।

मानवोंका इतिहास अशाश्वत है

इनमें 'अशाश्वत इतिहास' मानवोंका वृत्तांत है। ग्रीक लोग इस तरहका इतिहास लिखनेमें प्रवीण थे और इसी पद्धतिका अनुसरण युरोपियन लोगोंने किया और अंग्रेजोंके सहवाससे यह अशाश्वत इतिहासकी लेखन पद्धति भारतमें शुरू हुई है। इस अशाश्वत इतिहासकी कला चीनमें भी थी, अतः वहां भी ऐसे अशाश्वत इतिहास के लेख मिलते हैं।

ग्रीक और चीनी विद्वान् मानवोंके इस अशाश्वत इतिहासके लेखनमें प्रवीण थे और यूरोप अमेरिकामें कई लेखकोंने ऐसे इतिहास आज लिखे हैं। इस समय 'इतिहास' पदसे यही मानवोंका इतिहास लिया जाता है, जिसको 'अशाश्वत इतिहास' हमने कहा है।

'मनुष्यका वास्तव्य पृथ्वीपर अल्पकाल रहता है। प्रायः सौ वर्ष मनुष्यकी आयु होती है। कई लोग डेढसौ वर्षतक भी जीते रहते हैं। इसलिये यह इतिहास इतने समयसे मर्यादित हुआ इतिहास है। इसलिये इसको अशाश्वत इतिहास कहते हैं।

मानवकी कार्यक्षेत्रकी मर्यादा ही सौ डेढसौ वर्षोंसे मर्यादित है। इसलिये इसके कार्यक्षेत्र शाश्वत और सनातन नहीं हो सकते। सब राजाओंके या वीरोंके इतिहास आप देखिये। थोडे समयतक वह कार्य करता है और चला जाता है। सब मानवी इतिहास ऐसे ही है।

भारतकी विशेषता

ऐसा अशाश्वत क्षणभंगुर इतिहास लिखनेकी रुची ऋषिमुनि आर्यविद्वान आदिमें नही थी। इसलिये भारतवर्षमें ऐसे इतिहास लिखे नहीं गये। कश्मीरकी राजतरंगिणी तथा थोडेसे कुछ वृत्तांत छोड दिये जांय, तो जिसको आजकी परिभाषामें इतिहास कहा जा सकता है, वैसा इतिहास भारतके प्राचीन लेखकोंने नहीं लिखा।

कई लोग इसको न्यूनता कहते हैं, पर यही भारतकी दिव्य दृष्टिकी विशेषता है। यही यहां समझना आवश्यक है।

पुराण और इतिहास

भारतीय प्राचीन विद्वानोंने 'पुराण' और 'इतिहास' ये दो प्रकारके ग्रंथ लिखे हैं। 'पुराण' की व्युत्पत्ति 'पुरा अपि नवं' ऐसी है। अर्थात् यह प्राचीन वृत्त है तथापि यह नवीन जैसा है। यह शब्द ही बता रहा है कि यह कुछ विशेषतावाला ग्रंथ समुदाय है। यह "अति प्राचीन होनेपर भी अति नवीन जैसा है" यह क्या है और यह कैसा होता है इसका विचार करके हम बतायेंगे। उससे पूर्व जिसको 'इतिहास' कहते हैं, वे दो ही ग्रंथ हैं। (१) एक 'रामायण' और (२) दूसरा 'महाभारत'।

ये इतिहास हैं इसमें किसीको संदेह नहीं है। तथापि ये इतिहास भी जैसे ग्रीक लोगोंके इतिहास होते हैं वैसे वे भी इतिहास नहीं हैं। अर्थात् भारतके ऋषिमुनि जिसको

' इतिहास ' बोलते थे वे भी आजकलकी पद्धतिके इतिहास नहीं हैं। यही बात प्रथम समझनी चाहिये।

महाभारतका इतिहास

धृतराष्ट्र, कौरव, पांडव, कृष्ण, भीष्म आदि वीरोंका इतिहास महाभारतमें है। इन वीरोंके स्थान भी यहां आज हम देख सकते हैं। मन्दिर हैं, जन्मस्थान हैं, युद्धके स्थान हैं। अर्थात् प्रत्यक्ष इतिहास हुआ ऐसा ही यह सब हमारे सामने है। इसीलिये इसको इतिहास कहा है। पर क्या यह इतिहास ग्रीकोंके इतिहासके समान इतिहास है? इसका उत्तर " वैसा यह इतिहास नहीं है " यही है। उदाहरणके लिये हम धृतराष्ट्रके पुत्रोंके नाम ही देखते हैं—

धृतराष्ट्रके पुत्र

" दुर्योधन, दुःशासन, दुःसह, दुःशल, दुर्धर्ष, दुष्प्रधर्ष, दुर्मर्षण, दुर्मुख, दुष्कर्ण, दुर्मद, दुर्विगाह, दुर्विमोचन, दुष्पराजय, दुराधर " इत्यादि नाम देखिये। ऐसे सौ पुत्रोंके सौ नाम ऐसे ही ' दुः ' लगाकर बनाये हैं। इनकी बहन एक है उसका नाम भी ' दुःशीला ' है। पुत्रीके नाममें भी फरक नहीं है। ये ऐसे ' दुः ' जिसके प्रारंभमें लगा है ऐसे नाम कोई पिता अपने सबके सब पुत्रोंके लिये रख सकता है? क्यों रखे! ऐसे रखनेमें मातापिताके लिये कौनसा आकर्षण हो सकता है?

धृतराष्ट्र स्वयं संस्कृत जानता था। उसकी पत्नी (इन पुत्रोंकी माता) भी संस्कृत जानती थी। यह सम्राट् होनेसे इनके राजमहलमें अच्छे पंडित होने ही चाहिये। इसलिये ये सब ऐसे नाम राजपुत्रोंके लिये किस तरह पसंद कर सकते हैं?

' दुर्मुख ' नाम कौन अपने पुत्रका रख सकता है? ऐसे नाम मातापिता तो नहीं रख सकेंगे। घरमें सौ पुत्र और सभीके नाम ऐसे! यह कैसे बना?

इसका उत्तर यही एक है कि ये नाम ही धृतराष्ट्र पुत्रोंके नहीं हैं। उनके नाम कुछ और थे, परन्तु कविने इनके नाम कुछ विशेष बातकी सिद्धता करनेके लिये रखे हैं।

' धृतराष्ट्र ' के ये पुत्र हैं। ' धृत-राष्ट्र ' वह है कि जिसने (धृतं राष्ट्रं=अन्यस्य राज्यं येन) जिसने दूसरोंका राज्य अपने पाशवी बलके सहारेसे अपने आधीन करके उसपर कब्जा किया है, वह धृतराष्ट्र है। दूसरेकी वस्तुपर अनधिकारसे अपना अधिकार स्थापित करनेवाला धृतराष्ट्र होता है। उसके पाशवी बलके सूचक ये सौ पुत्रोंके नाम हैं। इनको देखनेसे स्पष्ट पता लगता है, कि ये नाम विविध प्रकारके पाशवी बलके सूचक हैं। सैंकडों ऐसे पाशवी बलोंसे धृतराष्ट्र दूसरोंके राज्य हरण करता है और अपना अधिकार उसपर जमाता है।

धृतराष्ट्र और हृतराष्ट्रका युद्ध

' धृतराष्ट्र ' के साथ ' हृत-राष्ट्र ' का युद्ध होता है। यह तत्त्व सनातन और शाश्वत सत्य तत्त्व है। पाशवी बलसे अपना अधिकार दूसरेके राज्यपर स्थापित करनेवालेके (अर्थात् धृत-राष्ट्रके) साथ जिनका राज्य छीना गया (हृतराष्ट्र) उनका युद्ध होता ही रहता है। ' धृतराष्ट्र ' पदसे यह शाश्वत तत्त्व बताया है। धृतराष्ट्रके साथी सौ पुत्र सौके सौ पाशवी बलके ही द्योतक हैं। धृतराष्ट्रका घर इस तरह पाशवी बलके अत्याचारका केन्द्र है ऐसा कविने वर्णन किया है। यह वर्णन कविने विशिष्ट शाश्वत सनातन तत्त्व बतानेके लिये किया है।

इस तरह सार्थ आशय बतानेवाले नाम रखना यह कविका कौशल्य है। यह कौशल्य भारतके ही ऋषिमुनि और कवी कर सकते हैं। ग्रीकोंमें यह दिव्य दृष्टि नहीं थी।

ग्रीक " स्थूल मानवोंका संघर्ष हो रहा है ' ऐसा स्थूल दृष्टीसे देखते थे, परतु भारतीय ऋषिमुनी उसी सघर्षमें जो सनातन गुप्त तत्त्व कार्य करते रहते हैं उनको देखते थे और वैसा वर्णन करते थे। इसीलिये ग्रीकोंके इतिहासमें अशाश्वत वृत्तांत वर्णित हुआ और भारतीय कवियोंके वर्णनोंमें शाश्वत सनातन तत्त्वोंके संघर्षका वर्णन आया है। इसका कारण इतना ही है कि भारतीय कवियोंकी दिव्य आध्यात्मिक दृष्टी थी और ग्रीकोंकी दृष्टी स्थूल थी।

जिस तरह ' धृतराष्ट्र ' का पक्ष पाशवी बलका बताया है उसी तरह पांडवोंका पक्ष आध्यात्मिक बलसे संपन्न बताया है। धर्मराज (धर्मसे राज्य करनेवाला, धर्मसे प्रकाशनेवाला), अर्जुन (शुद्ध)। जो धर्मानुकूल व्यवहार करता है उसके पक्षमें ' विजय ' होता है। अर्जुनका दूसरा नाम

'विजय' है। 'धर्म' का ही 'विजय' होता है। इस पक्षमें 'भीम' (शक्तिमान्), नकुल (कुलका महत्व नहीं), सहदेव देवोंका साहचर्य जहां जिस पक्षमें होता है वह पक्ष धर्मका ही है।

ये सब नाम सात्विक धर्मके पक्षके हैं। इसी पक्षमें परमेश्वरकी सहायता सब प्रकारसे प्राप्त होती है। इसीलिये भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं पांडव पक्षकी अर्थात् 'शुद्ध पक्षकी सहायता' करते हुए दीखते हैं।

यह रचना कविकी है। ये नाम विशेष भाव बतानेके लिये जान बूझकर रखे हैं। यहां एकएकके अनेक नाम विशेष हेतुसे रखे हैं—

धर्म (धर्मानुकूल व्यवहार करनेवाला) युधिष्ठिर (युद्ध स्थानमें स्थिर रहनेवाला) युद्धसे न भागनेवाला।

. अर्जुन (शुद्ध), गुडाकेश (निद्राका स्वामी, जो सुस्त नहीं, जिसके आधीन निद्रा है), विजय (शत्रुको जीतनेवाला), जिष्णु (जयशील) ये अर्जुनके नाम हैं। यह भगवान्का मित्र है। इसी कारण युद्धमें जय प्राप्त करता है।

ये सब नाम गुणबोधक हैं और इन नामोंका शाश्वत सनातन सत्य सिद्धांत बतानेका हेतु स्पष्ट है। यह वर्णन भारतीय प्रतिभाका द्योतक है।

महाभारतमें इतिहास है, परंतु उसको शाश्वत सनातन रूप देकर वह लिखा गया है। इसीलिये ये गुणबोधक नाम वहां दिये हैं। यह इतिहास नहीं ऐसा हमारा कथन नहीं है। इतिहास है, परंतु यदि यह इतिहास ग्रीक लिखते तो वे उस समयके अशाश्वत मानवोंका इतिहास लिखते। परंतु यही मानवोंका इतिहास सनातन इतिहासके रूपमें ढालकर, उसको मनोभावोंका रूप देकर लिखनेकी शैली ऋषि मुनियोंको छोडकर दूसरोंको साध्य नहीं हो सकती।

मानवी शरीर नश्वर है। परंतु मन, बुद्धि, आत्माके भाव और उनके परस्पर संघर्ष सनातन हैं। ऋषि देखते थे कि विविध लोगोंके मनोभाव परस्पर लडते हैं। मनोविकार और अध्यात्म शक्तियोंका संघर्ष चल रहा है। यह संघर्ष शाश्वत है। मानवोंकी लडाइयां थोडे समयकी लडाइयां हैं। परंतु मानवोंके अन्तःकरणोंके भावोंकी लडाइयां सनातन हैं। इनको देखकर उनका वर्णन करना यह बडी प्रतिभाका कार्य है। वह ऋषि ही कर सकते थे।

रामायणकी कथा

यहांतक हमने महाभारतकी कथाके नायकोंके नामोंका थोडासा विचार किया। अब रामायणकी कथाका थोडासा विचार करते हैं। रामायणकी कथाके मुख्य दो नाम मननीय हैं। वे हैं "दशरथ" और "दशमुख"। ये ऐसे नाम दोनोंके मातापिताने रखे होंगे, ऐसा संभव ही नहीं है। ये नाम कविके सहेतुक तथा संकल्पित नाम हैं, इसमें संदेह नहीं है।

दस इन्द्रियोंका रथ बनाकर उस रथपर आरूढ होनेवाले संयमी पुरुषका सांकेतिक नाम 'दशरथ' है। इस संयमी पुरुषको 'राम' (आनंद) पुत्र होता है। संयमका मूल आनंद है। इसकी नगरी 'अ-योध्या' नगरी है, जो शत्रुद्वारा युद्ध करके पराजित करनेके लिये कठिन या अशक्य है।

दूसरी ओर 'दशमुख' है। यह दसों इन्द्रियोंसे भोग करता है। दसों इन्द्रियोंसे विषयसुख लेनेवाला यह है। इसका दूसरा नाम 'रावण' है। 'रावण' का अर्थ 'रोनेवाला'। जो दसों इंद्रियोंसे भोग भोगना चाहेगा, उसको रोना ही पडेगा और उसकी लंका नगरी जल जायगी। यह भोगोंका परिणाम है।

क्या ये नाम सत्य हैं या कविने सहेतुक रचे हैं?

यदि ये नाम सत्य हैं तो दोनोंके पिताको अपने पुत्रोंके 'दशरथ' और 'दशमुख' ऐसे परस्पर विरोधी नाम रखनेकी कल्पना किस तरह सूझी? और परस्पर विरुद्ध अर्थवाले ये नाम उनके मातापिताने किस तरह दिये? इनमें दूरके ये लोग परस्परके शत्रु बनेंगे, इस कारण परस्पर विरुद्ध अर्थवाले नाम इनके रखने ही चाहिये, ऐसा विचार इनके मातापिताओंको सूझा ही कैसे?

इसका उत्तर यही है कि ये नाम कविकल्पनामेंसे प्रचारमें आगये हैं। कविने यहां देखा कि यहांका यह युद्ध संयमी और असंयमीके बीचका युद्ध है। कामी और निष्कामीके मध्यका यह युद्ध है और वैसे सूचक नाम देकर वैसा वर्णन किया।

यही रामायणका इतिहास यदि ग्रीक लेखक लिखता तो उसके इतिहासमें मानवोंका इतिहास आ जाता। परन्तु यह कथा ऋषिने लिखी, इसलिये इस कथामें शाश्वत मनोभावोंके युद्धका सनातन भाव आ गया है। ग्रीक इतिहासकार इसी अशाश्वत स्थूल देहकी हलचलें लिखते। यह भेद प्रथम समझना योग्य है।

महाभारत-रामायणके वीरोंके जन्म, कर्म और व्यवहार इस तरहके हैं। कविने अपनी प्रतिभा उसमें डाली है और इस जनसाधारणके इतिहासको शाश्वत स्वरूप दिया है। महाभारत रामायणके वीर इसी भूमिपर हुए थे, यहां उनके चरित्र हुए थे। इसमें संदेह नहीं। परंतु इन वीरोंमेंसे कइयोंके नामान्तर करके ऋषिने उसको मनोभावोंके रूपमें दिखाया है। इसलिये अशाश्वत इतिहासको सनातन इतिहासका स्वरूप आगया है। इसीलिये कई स्थानोंमें विचित्र कथाएं भी डालीं गयी हैं। इस रचनाका हेतु यही है कि यह घटना लौकिक मालुम न पडे और अलौकिक प्रतीत हो। इसीको कई लोग 'गपोडे' कहते हैं। पर ये गपोडे इसी कार्यके लिये अन्दर रखे गये हैं। इसीसे यह लौकिक व्यवहार नहीं है यह सिद्ध होता है।

अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है। महाभारत-रामायण इतिहासके ग्रंथ हैं। वह इतिहास इसी देशमें हुआ है। तथापि यह इतिहास ऐसे ढगसे लिखा है कि इनके वीरोंके नामोंसे शाश्वत सिद्धान्तोंका बोध मिल सके। जैसे—

१ युधिष्ठिरका भाई विजय है- जो युद्धमें स्थिर रहता है, युद्धसे भागता नहीं उसका जय होता है।

२ धर्मका भाई सहदेव है- धर्मके साथ ही दैवी शक्तियां रहती हैं।

३ दशरथका पुत्र राम है- दश इन्द्रियोंका संयम करनेवालेको परम आनंद प्राप्त होता है।

४ दशमुख रावण है- दश इंद्रियोंसे भोग करने वाला रोता रहता है।

५ धृतराष्ट्र सम्राट् अन्धा है- जो सम्राट् पाशवी बलसे दूसरेके राज्यपर कब्जा करता है वह अन्धा ही होता है।

इस तरहके सैंकडों सनातन सिद्धान्तोंके उत्तम बोध रामायण महाभारतके ग्रंथोंसे ही मिल सकते हैं।

ग्रीकोंके अस्थिर (मानवी) इतिहाससे इस तरहके बोध प्राप्त होना असंभव हैं। भारतीय सनातन इतिहासका यह महत्त्व पाठक प्रथम ध्यानसे धारण करें।

हमारा ऋषिमुनियोंका यह इतिहास अमर है। जगत्के किसी अन्य देशमें ऐसे शाश्वत इतिहास लिखनेकी प्रथा ही नहीं है। इसका कारण इतना ही है कि वैदिक शाश्वत घटनाओंका ज्ञान किसी दूसरे देशमें नहीं है जैसा वह भारतके ऋषियोंको विदित था। उसको देखकर यहांके लेखक वैसे ग्रन्थ लिख सकते थे।

पुराणकी कथाएं

यहांतक इतिहास ग्रन्थोंके वर्णनकी आलोचना की और बताया कि ये इतिहास होनेपर भी ऐसे ढगसे लिखे गये हैं कि इसमें सनातन तत्वोंका प्रत्यक्ष दर्शन हो सकता है। अब कुछ नमूने पुराणोंकी कथाओंके यहां बताते हैं।

'पुराण' वह है कि जो (पुरा अपि नव) पुराना होता हुआ भी नवीन सा हो। यह किस तरह है यह अब देखिए—

चन्द्रमाकी कथा

चन्द्रमाका विवाह २७ दक्ष कन्याओंसे हुआ। इस कारण उसको राजयक्ष्मा हुआ।

२७ आकाशस्थ तारकाओंके साथ चन्द्रका विवाह हुआ, यह एक आलंकारिक बात है। वास्तविक रीतिसे चन्द्रमा और तारकाओंमें अन्तर करोडों मीलोंका है। परन्तु इस कथासे बहुपत्नी विवाहका निषेध किया गया है। बहुपत्नी करनेसे क्षय रोग, वीर्यनाश आदि दोष हो सकते हैं।

२७ आकाशस्थ तारकाओंके साथ चन्द्रमाका संबंध (पुरा अपि नवः) प्राचीन समयमें जैसा था वैसा ही आज भी है। काल्पनिक कथा भी हुई और बोध भी मिला।

बुधकी उत्पत्ति

तारा बृहस्पतिकी पत्नी थी। उसे चन्द्रमाने अपने साथ रखा। उसे बुध नामक पुत्र हुआ।

यह "चन्द्रमा+तारा+बुध" की आकाशमें जो युति हुई उसपर आलंकारिक रीतिसे लिखी गई कथा है।

आकाशमें ग्रहोंकी और तारकाओंकी ऐसी युतियां होती हैं। ज्योतिषके गणितसे ऐसी युति कब हुई थी और पुनः कब होगी? यह ठीक तरह कहा जा सकता है। इसीलिये

यह (पुरा अपि नव) प्राचीन समयमें हुआ था परंतु फिर भी होगा। यह पुराण-कथा है।

आकाशमें अनेक तारकाएं एक स्थानपर आगयी तो उसको युति कहते हैं। ऐसी युति-मूलक कथाएं पुराणोंमें अनेक हैं।

हरिश्चन्द्रकी कथा

हरिश्चन्द्र राजा था। उसकी सौ पत्नियां थी। उनसे उसको पुत्र नहीं हुआ। वरुणकी उपासनासे पुत्र हुआ। वह था रोहित। वरुणको उसका बलि देना था। इस कार्यके लिये अजीगर्तके पुत्रको लाया गया और उसका बलि देनेकी तैयारी की। इससे रोहित बचा।

यह कथा सब जानते हैं इसलिये सब कथा यहां देनेकी आवश्यकता नहीं है। यहां इस कथाके पदोंका अर्थ देखना अत्यंत आवश्यक है। 'हरिः चन्द्र' हरिद्वर्णका चन्द्र। चन्द्रका अर्थ लोह है। वह हरे रंगका हुआ।

शरीरके रक्तमें 'लोह' होता है। इसमें 'लोह' होनेके कारण वह रक्त लाल रंगका होता है। 'लोह+इत' लोह जिसमें है वह 'लोहित' है। वही हरिश्चन्द्रका पुत्र 'रोहित' अथवा 'लोहित' है। रक्तमें लोह रहनेसे जो रक्त लाल बनता है उसका नाम 'रोहित' या 'लोहित' अथवा 'लोही' है। पर रक्तमेंसे 'लोह' कम हुआ तो वही रक्त 'हरिश्चन्द्र' बनता है। हरे वर्णका होता है। इसका अर्थ रक्तमेंसे लोहा कम हुआ और इसको 'पाण्डुरोग' हुआ। शरीरमें वीर्य नहीं रहा। वीर्य न बना तो पुत्र कैसे उत्पन्न होगा?

इस अवस्थामें वह अजीगर्तके पास उसका पुत्र मांगनेके लिये जाता है। 'अजीगर्त' ऋषि है वह 'अ-जीर्ण गर्त' है। यह पेट ही अजीर्णगर्त है। न जीर्ण हुआ अन्न जिस गढेमें (गर्तमें) रहता है वह अजीर्णगर्त (अपरिपक्व अन्नका गढा) पेट है। इसका अन्न-रस पुत्र है। वह बलि रूपसे हरिश्चन्द्रके पुत्रके लिये दिया जाता है, अर्पण किया जाता है। इस पेटके अन्न-रसका रक्तबिन्दु होता है। इससे हरिश्चन्द्रको रोहित या लोहितकी प्राप्ती होती है।

अन्नरससे अच्छा नया रक्तबिन्दु तैयार होता है और वह हरिश्चन्द्रके पुत्रको-रोहितको-आयु प्रदान करता है।

पेटमें गये अन्नका रक्त बनना और उससे रुधिरमें नये रक्तसे पोषण प्राप्त होनेके सनातन चले हुए व्यवहारका यह (कथा) रूपक है। इसलिये यह (पुरा अपि नवं) कथा प्राचीन समयमें थी वैसी आज भी है।

ऐसी कई कथाएं हैं। कई बीभत्स भी हैं। कई अच्छी भी हैं। पर ये कथाएं पहले हो चुकी थीं, परन्तु नवीन भी होती हैं; क्योंकि ये शरीरकी तथा विश्वकी घटनाएं समान रीतिसे चल रही हैं। इस कारण ये पुराण कथाएं हैं और ये नवीन भी हैं।

खगोल विद्या, शारीर विद्या, सृष्टीचमत्कार, औषधि चमत्कार आदि बातोंकी बुनियादपर ये कथाएं रची हैं। इसलिये विचित्र दीखनेपर भी इनमें दोष नहीं है।

हरिश्चन्द्रकी कथा ऐतरेय ब्राह्मणमें भी है। यद्यपि पौराणिक कथा और ऐतरेयकी कथामें अन्तर है तथापि मूल तात्पर्य जो ऊपर बताया है वही है।

इतिहास और पुराणकी कथाओंके नमूने यहां बताये हैं। इनसे स्पष्ट हो सकता है कि ये कथाएं गपोडे जैसी दीखती हैं तो भी इनमें आधारभूत कुछ सत्य घटनाएं हैं और इस कारण सनातन सिद्धान्त ये बता रही हैं।

भारतके इतिहास-पुराणोंके ग्रन्थोंमें ही ऐसी कथाएं हैं इसका कारण यही है कि वेदमें जो शाश्वत इतिहास है, वह ऋषियोंको विदित था। इस कारण ऋषि वैसी रचना करते थे। वेदके शब्दोंसे ही इन्होंने स्थानोंके और मानवोंके नाम रखे थे।

> सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्।
> वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे ॥२१॥
>
> मनु० १।२१

'सबके पृथक् पृथक् नाम और कर्म तथा पृथक् पृथक् संस्थाएं भी वेदके शब्दोंसे ही उसने निर्माण की।' यह मुख्य बात वेदमें इतिहास है वा नहीं इसका विचार करनेवालोंको ध्यानमें रखनी चाहिये। यह बात ठीक तरह समझमें आगयी तो फिर कोई कठिनता नहीं है।

एक एव पुरा वेदः

एक समय ऐसा था कि जिस समय लोगोंके पास केवल वेद ही था और दूसरे कोई ग्रंथ नहीं थे। उस समय जनताके सब कर्म वेदमंत्रोंसे ही होते थे। राज्यशासन, सेना रचना,

कन, युद्ध, न्यायदान, घरेलु कार्य, विवाह आदि तथा वैयक्तिक मनोरंजन आदि सब वेदके मन्त्रोंसे ही होता था। दूसरा कोई ग्रंथ था ही नहीं। इसलिये जो भी करना, सीखना, पढाना, समझाना, कथा करना आदि सब वेदसे ही किया जाता था। ऐसा होना स्वाभाविक भी था। दूसरा ग्रंथ हो तो उसका सहारा लिया जा सकता है। जब दूसरा ग्रन्थ ही नहीं तो वेदको छोडकर किस अन्य ग्रंथका सहारा लिया जा सके ?

इस समय मनोरंजन करने, बोध प्राप्त करने या उपदेश करनेका कार्य हो तो वेदका ही भाग लेकर लोग अपना कार्य कर लेते थे। इस समयकी परिस्थिति विचार कर सकनेवाले पाठक मनमें ला सकते हैं। विचारी पाठकोंका इस समयकी परिस्थिति यहां मनमें लाना आवश्यक है। वेदसे ही सब व्यवहार हो रहे हैं। वे कैसे होते थे ? यह देखिये—

शत्रु आरहा है, घेर रहा है उस समय विद्वान लोग ये मंत्र देखते और कहते थे कि—

इन्द्र और वृत्रका युद्ध

१ अहन्नहिं पर्वते शिश्रियाणं त्वष्टास्मै वज्रं
स्वर्यं ततक्ष ॥ २ ॥

२ अहीनां आन्मायिनां अमिनाः प्रोत मायाः ॥३॥

३ स्कन्धांसीव कुलिशेना विवृक्णाऽहिः शयत
उपपृक् पृथिव्याः ॥ ५ ॥

४ अपादहस्तो अपृतन्यदिन्द्रम् आस्य वज्रमधि
सानौ जघान ॥ ७ ॥

५ नीचावया अभवद् वृत्रपुत्रा इन्द्रो अस्या
अव वधर्जभार। उत्तरा सूरधरः पुत्र आसीत्
दानुः शये सहवत्सा न धेनुः ॥ ९ ॥

६ इन्द्रश्च यद्युयुधाते अहिश्चोतापरीभ्यो मघवा
विजिग्ये ॥ १३ ॥ ऋग्वेद १।३०

(१) "पर्वतपर वृत्रासुर घेर रहा था। इन्द्रने उसपर वज्र मारा। त्वष्टाने यह वज्र इन्द्रको तैयार करके दिया था। (२) कपटी शत्रुओंके सब कपटजाल इन्द्रने तोड दिये। (३) इन्द्रने वज्रसे वृत्रके बाहू तोड दिये, पांव भी काटे तब वह शत्रु पृथ्वीपर गिर पडा। (४) पांव और हाथ कट जानेपर भी वह इन्द्रके साथ अपनी सेनासे युद्ध कर रहा था। उस समय इन्द्रने इसके कंधेपर वज्र मारा। इस समय (५) वृत्रकी माता आयी और अपने घायल पुत्रपर सोई। ऊपर माता और नीचे पुत्र था। जैसी धेनु अपने बछडेके साथ बैठती है वैसा यह दृश्य था। (६) इस तरह इन्द्र और वृत्रका युद्ध हुआ और अन्तमें इन्द्रका विजय हुआ।"

शब्दार्थसे दीखनेवाली यह कथा ऐसी है। युद्ध उपस्थित होनेपर यह बडा बोध दे सकती है। शत्रुका वध करनेके लिये उत्तमसे उत्तम शस्त्रास्त्र तैयार करना, शत्रुके कपटोंको जानना और उनका निराकरण करना, शत्रुसे लडनेके लिये स्त्रियां भी आगयीं, तो उनका निराकरण करना और अन्तमें अपना विजय होने योग्य अपना बल बढाकर अपना विजय प्राप्त करना आदि बातें वेदके इन शब्दोंसे स्पष्ट दीखती हैं।

'इतिहास' शब्दसे डरनेवाले 'इन्द्र, अहि, वृत्र, पर्वत, वज्र, त्वष्टा, माया, स्कंध (कधा), पाद, हस्त, सू (माता)' आदि पदोंके अर्थ और करेंगे। ये अन्य अर्थ भी हो सकेंगे, पर वेद जो राज्यव्यवहारका बोध देना चाहता है, तथा जो कथाका रस सुननेवालोंके मनमें उतारना चाहता है। वह सबका सब विनष्ट होगा।

इन्द्र सूर्य है, वृत्र मेघ है, वज्र किरण है, 'स्कध पाद हस्त माता' का कुछ भी महत्त्व नहीं। ऐसा यह अर्थ बन सकता है। जो करनेवाले हैं वे ऐसा अर्थ करें। पर वेदके शब्दोंमें कुछ विशेष महत्त्व है, उन मन्त्रोंके वाक्य मनुष्योंको राज्य, समाज, कुटुंब आदि संबंधी महत्त्वयुक्त बोध देते हैं। इसलिये मन्त्रोंका अर्थ जो व्यक्त रीतिसे दीखता है वैसा ही करना युक्त है। जो अन्य अर्थ करने हों वे अर्थ पंडित लोग करें और उन अर्थोंसे वे अन्य भाव भी बतावें। उससे कुछ भी हानि नहीं है। पर वे मूल अर्थको विनष्ट करनेका यत्न न करें।

प्रत्येक पाठक ऊपरके मंत्र देखें, विचारें और मनमें समझे कि वेद शत्रुसे कैसा बर्ताव करना चाहिये, इस विद्याका पाठ दे रहा है। यह पाठ मुख्य है। यह मनुष्योंको अपने मनमें सदा धारण करना चाहिये। वेद सनातन ग्रंथ है। इस कारण उसमें सनातन बोध रहता है। यह बोध देनेके लिये जो वाक्य वेद प्रयुक्त करता है, उन वाक्योंको न बदलते हुए जो अर्थ सरलतया हो सकता है वह किया जावे। अथवा किसी स्थानपर टिप्पणी, टीकामें अन्य अर्थोंका

सुझाव करना चाहिये, पर मूलकी गंभीरता वैसीकी वैसी ही रखनी चाहिये।

वेदका अर्थ हमारी टिप्पणीकी दयापर टिक रहा है, ऐसा समझ कोई न करे। वेदके प्रत्येक पदका महत्त्व कायम रहे और उससे शाश्वत बोध प्राप्त हो ऐसा करना प्रत्येकका कर्तव्य है।

जैसा इन्द्र-वृत्रका सनातन इतिहास है, वैसा उसका बोध भी सनातन ही है और यह राजकीय शासनक्षेत्रका महत्त्वपूर्ण बोध है। कोई दूसरा अर्थ करनेवाले अपने अर्थसे ऐसे राज्यशासनके अथवा अन्य क्षेत्रमें उपयोगी होनेवाले अर्थ बतावे। मन्त्रके शब्दोंको छोडा न जाय। सब पदोंका योग्य भाव दर्शाया जाय और बोध भी प्राप्त हो। तब उनका अर्थ भी विचार करनेयोग्य माना जा सकता है।

इससे पूर्व बताया है कि महाभारतकी कथाएं भी वेदके अनुसार स्थायी अर्थ देनेवाली बनायी हैं। वेदकी कथाओंको देखकर ही तो व्यास वाल्मीकिने यह रचना की है। पुराणोंकी कथाएं भी इसी तरह लिखी हैं। इसके उदाहरण इससे पूर्व बताये ही हैं। वेदकी कथाएं भी इसी शाश्वत उपदेशको देनेवाली हैं ऐसा समझकर वे कथाएं देखनी चाहिये।

वेदके मन्त्रोंमें ऊपर दिये वृत्रकी कथाके समान अनेक कथाएं हैं। (१) च्यवनको वृद्धावस्थामें जवान बनाया, (२) किसीको लोहेकी टांग बिठलाकर चलने योग्य बनाया, (३) किसीको दृष्टि दी, (४) वध्या गौको दुधारू बनाया आदि।

ये कथाएँ चिकित्साशास्त्रकी कुशलता प्रकट कर रही हैं। ऐसी चिकित्सा वैद्य सीखें और ऐसे चमत्कार करें। यह इन कथाओंका उद्देश्य है। यह उद्देश्य उपयोगी है। वेदके धर्मको "चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः" कहा है। वह (चोदना) प्रेरणा यही है कि वेदने जैसा पहिले किये हुएका वर्णन वेद करता है, वैसा हम भी करे। हम वृद्धोंको तरुण बनावे, हम कटे पांववालेको लोहेकी टांग लगाकर चलने योग्य बनावें। हम शस्त्रक्रियासे अन्धेको दृष्टि दें। हम गौओंको दुधारू बनावे। अर्थात् ये कथाएँ जो वेदमें हैं वे इस तरह आजके लोगोंको मार्ग बताती हैं कि तुम यह कला सिद्ध करो। 'कथा' देखनेसे कोई हानि नहीं है। हरएक कथामें सनातन उपदेश है। विज्ञानकी बाते हैं। रस है। गभीरता है। यह सब उपयोगी ज्ञान है।

यहा हमने थोडेसे उदाहरण दिये हैं और शाश्वत सत्यकी बातें इनमें हैं यह बताया है। इसीको कहते हैं कि यह (Permanant History of Pharat Varsh) भारतवर्षका शाश्वत इतिहास है। इसका मर्म पाठक समझें।

वास्तवमें पंडितोंको एक एक कथा वेदमें कैसी है और अन्य पुराणादिमें कैसी है, किसमें किस तरह न्यूनाधिक हुआ है, इसका अच्छी तरह विचार करना चाहिये। यह एक खोजका बडा भारी क्षेत्र है। कौनसी कथा क्या बोध देती है और उसका मूल स्वरूप वेदमें कैसा था इसका संशोधन करना चाहिये। आशा है ऐसा संशोधन पण्डित मंडली करेगी और इससे प्राप्त होनेवाला बोध जनताको देगी।

[स्वाध्यायमण्डल किल्ला-पारडी (सूरत) द्वारा संचालित]

अखिल भारतीय संस्कृत भाषा प्रचार समिति का

गुजरात प्रान्तीय संस्कृतभाषा प्रचार सम्मेलन

चान्दोद

गुजरातके अत्यन्त प्राचीन तीर्थस्थानके रूपमें प्रसिद्ध एवं नर्मदाके पुनीत तटपर बसी हुई चान्दोद नगरीमें गुजरात प्रान्तीय संस्कृतभाषा प्रचार सम्मेलन मनानेका निश्चय हुआ है। यहांके प्रतिष्ठित नागरिकों एवं सार्वजनिक संस्थाओंके अधिकारियोंने ता ७-८-५५ को इस विषयमें विचारपरामर्श करके यह निश्चय किया कि उक्त सम्मेलन पूरे उत्साहके साथ मनाया जावे।

सम्मेलनकी तिथियां— आश्विन शुद्ध ११ तथा वद्य १, सं २०११ तदनुसार ता ३०।३१ अक्टूबर (रवि सोम) निश्चित की गई हैं।

इस सम्मेलनमें भारतके अनेक बडे बडे संस्कृत विद्वानों एवं नेताओंको आमन्त्रित किया गया है।

इसे अधिकसे अधिक सफल बनानेके लिये विशेषत गुजरातप्रान्तके सभी केन्द्रव्यवस्थापकोंका सहयोग अपेक्षित है, अत उनसे प्रार्थना है कि इस विषयमें अपने सुझाव यथाशीघ्र निम्नाङ्कित पतोंपर भेजें—

परीक्षामन्त्री	शास्त्री छगनलालजी भट्ट, प्रधानाध्यापक,
स्वाध्याय-मण्डल	चाम्बू ब्राह्मण संस्कृत पाठशाला, शेषनारायण टेकरे,
पो किल्ला-पारडी (सूरत)	चान्दोद, जि. बडौदा

[स्वाध्यायमण्डल पारडी (सूरत) द्वारा संचालित]

अखिल भारतीय संस्कृतभाषा परीक्षा-समिति की

१०-११ सितंबर ५५ ई. की संस्कृतभाषा परीक्षाओंका

कार्यक्रम

शनिवार १० सितबर		रविवार ११ सितबर	
१०॥ से १॥	२॥ से ५॥	१०॥ से १॥	२॥ से ५॥
विशारद-प्रश्न पत्र १	विशारद-प्रश्न पत्र २	विशारद-प्रश्न पत्र ३	विशारद-प्रश्न पत्र ४
×	परिचय-प्रश्न पत्र १	परिचय-प्रश्न पत्र २	परिचय प्रश्न पत्र ३
×	×	प्रवेशिका-प्रश्न पत्र १	प्रवेशिका-प्रश्न पत्र २
×	×	प्रारम्भणी	×

ता. १०-११-१२ सितंबर ५५ ई. की

साहित्यक परीक्षाओंका कार्यक्रम

शनिवार १० सितबर		रविवार ११ सितबर		सोमवार १२ सितबर	
१०॥ से १॥	२॥ से ५॥	१०॥ से १॥	२॥ से ५॥	१०॥ से १॥	२॥ से ५॥
साहित्याचार्य १	साहित्याचार्य २	साहित्याचार्य ३	साहित्याचार्य ४	साहित्याचार्य ५	साहित्याचार्य ६
×	साहित्यरत्न १	साहित्यरत्न २	साहित्यरत्न ३	साहित्यरत्न ४	साहित्यरत्न ५
×	×	साहित्यप्रवीण १	साहित्यप्रवीण २	साहित्यप्रवीण ३	साहित्यप्रवीण ४

विभूतिवन्दनास्तोत्रम् ।

लेखक
प्रा. श्री. भा. वर्णेकर, एम्. ए.,

रत्नाकराधौतपदां हिमालयकिरीटिनीम् ।
ब्रह्मराजर्षि—रत्नाढ्यां वन्दे भारतमातरम् ॥ १ ॥
उद्यन्मार्तण्डसकाशं राष्ट्रवीरयशोयुतम् ।
राष्ट्रधर्मध्वजं पूतं प्रणयामि सनातनम् ॥ २ ॥
विश्वंभरायाः कण्ठस्थः कोऽपि चिन्तामणिर्महान् ।
अचिन्त्यमहिमा चिन्त्यो देवतात्मा हिमालयः ॥ ३ ॥
श्रीविष्णुचरणोद्भूता शिवशेखरशालिनी ।
मनः पुनातु मे गंगा सा पुण्यमयरूपिणी ॥ ४ ॥
यस्यास्तीरे समाधिस्थै ऋषिभिर्दिव्यचक्षुषा ।
दृष्टा वैदिकमन्त्रास्ते सिन्धुं तां चिन्तये सदा ॥ ५ ॥
यज्ञक्षेत्रं तपःक्षेत्रं ज्ञानक्षेत्रं च यत्परम् ।
स्मरामि काशीक्षेत्रं तत् साक्षाद्विश्वेश्वरप्रियम् ॥६॥
तीर्थराजं प्रयागं तं वन्दे परमपावनम् ॥
यमुनाऽपि हि सा यत्र गंगास्नानार्थमागता ॥ ७ ॥
रामनामांकिता यत्र पाषाणा अपि सागरे ।
सन्तीर्णास्तन्महातीर्थं वंदे रामेश्वराभिधम् ॥ ८ ॥
शृंगेरी, बदरीक्षेत्रं, पुरी, द्वारावती तथा ।
इतीदं सन्ततं वन्दे धर्मधामचतुष्टयम् ॥ ९ ॥
रामकृष्णादयो यत्र जातास्ते पुण्यचिन्तनाः ।
चिन्तये ताः पुरीः पुण्या अयोध्यामथुरादयः ॥१०॥
महाकवि-महाराज-महाकालनिवासभू. ।
स्मर्तव्योज्जयनी सा मे गतवैभवबोधिनी ॥११॥
इन्द्रप्रस्थं जगत्ख्यातं पूर्वैश्वर्यप्रबोधकम् ।
स्मरामि पाटलीपुत्रं विजयानगरं तथा ॥१२॥
भक्तिर्मूर्तिमती भूत्वा यत्र नृत्यति गायति ।
भूवैकुण्ठसमां पुण्यां चिन्तये पण्ढरीपुरीम् ॥१३॥
विपत्सु भारतीयानां समुज्वलतमा गुणाः ।
आविर्भूता यत्र सर्वे चित्रदुर्गं स्मरामि तम् ॥१४॥
मुनिश्वसनपूतानि वीररक्तांकितानि च ।
सतीदहनदीप्तानि पुण्यतीर्थानि चिन्तये ॥१५॥
गंगोत्री सर्वधर्माणां सवित्रीं पुण्यकर्मणाम् ।
विधात्रीं सर्वशास्त्राणां तां वन्दे श्रुतिमातरम् ॥१६॥
अनाद्यनन्तः संसारो यत्राऽयं प्रतिबिम्बितः ।
तं दिव्यं वाङ्मयादर्शं भारतं चिन्तये सदा ॥१७॥
वन्दे रामायणं वाणीवीणाझङ्कारमंजुलम् ।
ध्वन्यते रामभद्रस्य चरित्रं यत्र मङ्गलम् ॥१८॥
कार्पण्यहतजीवानां दिव्यसंजीवनीं च ताम् ।
वन्दे श्रीभगवद्गीतां शोकमोहविनाशिनीम् ॥१९॥
मनुमादिगुरुं वन्दे येन सम्यक् प्रदर्शिता ।
मोहग्रस्तानिमाँल्लोकान् कार्याकार्यव्यवस्थितिः ॥२०॥
दध्यंचं नौमि तं यस्य तपःपूतोऽस्थिपञ्जरः ।
देवत्राणे दैत्यनाशे संजातो वज्रपञ्जरः ॥२१॥
स्वमहिम्नैव येनेदमाक्रान्तं भुवनत्रयम् ।
बलितोऽपि बलीयांसं तं वन्दे वामनं बटुम् ॥२२॥
यस्याऽचलैव सा भक्तिर्विपत्पातशतैरपि ।
तं भक्तराजं प्रह्लादं भक्त्या मनसि चिन्तये ॥२३॥
बाल्येऽपि येन न त्यक्तं प्रलोभनशतैरपि ।
अंगीकृतं ध्रुवं कार्यं ध्रुवकीर्तिं ध्रुवं नुमः ॥२४॥
शिबिं नमामि राजानं शरणागतवत्सलम् ।
खण्डिता स्वतनुर्येन कपोतस्यापि रक्षणे ॥२५॥
स्वप्नेऽपि न परित्यक्तं येन सत्यव्रतं निजम् ।
नमामि श्रीहरिश्चंद्रं तं साक्षात्सत्यदैवतम् ॥२६॥
विन्ध्याद्रिनतपादाब्जं परिपीतमहार्णवम् ।
तमगस्त्यमृषिं वंदे महामहिमशालिनम् ॥२७॥
स्वर्गतुल्यः कृतो येन मर्त्यलोकः स्वयत्नतः ।
स्वर्गंगां भूमिमानीय वन्देऽहं तं भगीरथम् ॥२८॥
स्थितप्रज्ञवरिष्ठाय ब्रह्मवादरताय च ।
राजर्षये नमस्तस्मै जनकाय महात्मने ॥२९॥
वर्णानां पुरुषार्थानामाश्रमाणां च शास्त्रतः ।
धर्माधर्मप्रवक्तारं याज्ञवल्क्यं नमामि तम् ॥३०॥

तस्मै परशुरामाय लोकपीडापहारिणे ।
मत्तभूपालसंहार-दीक्षिताय नमो नमः ॥३१॥
यथा क्षात्रं तथा ब्राह्मं तेजो येन प्रकाशितम् ।
प्रतिसृष्टिविधातारं विश्वामित्रं नमामि तम् ॥३२॥
ब्रह्मज्ञानं यतो लेभे श्रीरामोऽपि कृताञ्जलिः ।
ब्रह्मवर्चस्विनं वन्दे वसिष्ठं तं महामुनिम् ॥३३॥
कविं नमामि वाल्मीकिं श्रीरामायणकोकिलम् ।
बभूव यस्य काव्येन सुरसा सुरभारती ॥३४॥
यस्योदात्तचरित्रेण स्वर्गरम्यमभूज्जगत् ।
श्रीरामचन्द्रं तं वन्दे मर्यादापुरुषोत्तमम् ॥३५॥
असाधारणचारित्र्यौ सेवाधर्मपरायणौ ।
परमत्यागिनौ वन्दे बन्धू भरतलक्ष्मणौ ॥३६॥
अत्यन्ताद्भुतसामर्थ्यं परमब्रह्मचारिणम् ।
नमामि श्रीहनूमन्तं रामसेवादृढव्रतम् ॥३७॥
नमोऽस्तु वेदव्यासाय यस्यवाङ्मयतेजसा ।
सबाह्याभ्यन्तरं विश्वं संजातं जनगोचरम् ॥३८॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
संस्थापकाय धर्मस्य श्रीकृष्णाय नमो नमः ॥३९॥
सत्यसंधो महावीर्यो जितमृत्युर्जितेन्द्रियः ।
यथार्थनामा भीष्मोऽसौ वन्दनीयः सदा मम ॥४०॥
सत्यनिष्ठं नृपश्रेष्ठं पुण्यश्लोकं युधिष्ठिरम् ।
उदारचरितं वन्दे सततं परमादरात् ॥४१॥
वन्दे मृत्युंजयाऽजय्यं मत्तराजधनंजयम् ।
धनुर्धरवरं पार्थं श्रीकृष्णवचनस्थितम् ॥४२॥
वन्दे मृत्युंजयां देवीं सावित्रीं पुण्यदेवताम् ।
पतिव्रतानां सर्वासामपि पूज्यां निरन्तरम् ॥४३॥
पुण्यकीर्तिं पुण्यमूर्तिं वन्दे तारामतीं सतीम् ।
पुञ्जीभूतं यशो यस्याश्चरिते स्त्रीकुलस्य हि ॥४४॥
वन्दे मङ्गलशीलां तां महासाध्वीमरुंधतीम् ।
सर्वर्षिजनसंपूज्यां वसिष्ठसहचारिणीम् ॥४५॥
यज्जन्मना पुण्यमयी भूमाता समजायत ।
नमामि सीतादेवीं तां श्रीराममयजीविताम् । ॥४६॥
तपस्विनीं तां वन्देऽहं शबरीं वनवासिनीम् ।
यया सन्तोषितो रामः सद्भावमधुरैः फलैः ॥४७॥
बुद्धं वन्दे जगद्वन्द्यं दयाधर्मप्रवर्तकम् ।
येन हिंसा-निषेधेन धर्माचारः शुचीकृतः ॥४८॥
नमोऽस्तु जिनराजाय परमोग्रतपस्विने ।
महावीराय मुनये ह्यहिंसाधर्मवादिने ॥४९॥

शास्त्रपूजा कृता येन लोकानामिह वैखरी ।
श्रेष्ठं व्याकरणाचार्यं तं वन्दे पाणिनिं मुनिम् ॥५०॥
यदीयं शास्त्रसोपानं समारुह्य प्रयत्नतः ।
जीवो ब्रह्मपदं याति तं वन्दे श्रीपतञ्जलिम् ॥५१॥
करस्थबदराणीव नभस्थान्यपि वेद यः ।
सर्वज्योतींषि तं वन्दे वराहमिहिरं सदा ॥५२॥
अगण्यपुण्यसंप्राप्यं शरीरं धर्मसाधनम् ।
सुरक्षं यस्य शास्त्रेण वाग्भटं प्रणमामि तम् ॥५३॥
यतः सर्वमिदं लोके तत्त्वज्ञानं प्रवर्तितं ।
वन्दे तमाद्यं तत्त्वज्ञं महर्षिं कपिलाभिधम् ॥५४॥
पाखण्डखण्डनाचार्यं तमद्वैतप्रवर्तकम् ।
वन्दे जगद्गुरुं श्रेष्ठं शंकरं लोकशंकरम् ॥५५॥
प्रमत्तशत्रुदमनी राष्ट्ररक्षणकारिणी ।
नीतिः प्रवर्तिता येन चाणक्यं प्रणमामि तम् ॥५६॥
बलान्निर्वर्तिता येन बाह्यदेशागतारयः ।
राष्ट्रस्वातंत्र्यवीरं तं चंद्रगुप्तं नमाम्यहम् ॥५७॥
अशोकं नौमि सम्राजं यदीयं पावनं यशः ।
मूका वदन्ति पाषाणस्तंभा उच्चैर्दिवानिशम् ॥५८॥
प्रवीरौ शककर्तारौ शालीवाहन-विक्रमौ ।
शकादिरिपुजेतारौ वन्दे संस्कृतिरक्षकौ ॥५९॥
बिभर्ति सुरभारत्याः प्रभामंडलसन्निभम् ।
काव्यं दिव्यं यदीयं तं कालिदासं नमाम्यहम् ॥६०॥
नानाकलानदीष्णाय शास्त्रसिन्धुविगाहिने ।
नमः समुद्रगुप्ताय सर्वत्र जयशालिने ॥६१॥
स्वविभूत्या कृता येन सर्वा भूतिमती प्रजा !
सर्वस्वदानवीरं तं श्रीहर्षं प्रणमाम्यहम् ॥६२॥
यस्य ज्ञानप्रकाशेन प्रकाशं समुपागताः ।
स्वयंप्रकाशिनो वेदास्तं वन्दे सायणं गुरुम् ॥६३॥
आत्मानात्मविवेकेऽपि मित्रामित्रविवेकिनम् ।
अमात्यं माधवाचार्यं विद्यारण्यं नमामि तम् ॥६४॥
वन्दे रामानुजाचार्यं विशिष्टाऽद्वैतवादिनम् ।
तथा श्रीवल्लभाचार्यं शुद्धाऽद्वैतप्रवर्तकम् ॥६५॥
पूजनीयं च निंबार्कं द्वैताऽद्वैतप्रबोधकम् ।
द्वैतभक्तिप्रवक्तारं मध्वाचार्यं नमामि तम् ॥६६॥
यस्य शास्त्रे च शस्त्रे च कौशल्यं तुल्यमेव हि ।
तं वीरशैवाद्याचार्यं वन्दे श्रीबसवेश्वरम् ॥६७॥

भूषिता यस्य काव्येन नूनं द्राविडभारती ।
तं वन्दे तिरुवल्वारं लोकवन्द्यं महाकविम् ॥६८॥
उज्ज्वलीकृतगीतार्था यस्य वागमृतोपमा ।
ज्ञानेश्वरोऽसौ भगवान् हृदये मेऽस्तु संततम् ॥६९॥
कृतं रामायणं येन जनसाधारणप्रियम् ।
नमामि तुलसीदासं तमसाधारणं कविम् ॥७०॥
यस्या गीतैर्भक्तिसान्द्रैर्नीरसस्यापि मानसम् ।
भवेद् भक्तिरसार्द्रं तां मीरां वन्दे मनस्विनीम् ॥७१॥
सचैतन्यं कृतं येन दत्त्वा भक्तिरसायनम् ।
जीवनं सर्वलोकानां श्रीचैतन्यं नमामि तम् ॥७२॥
परोपकारधर्माणं परपीडार्तमानसम् ।
भक्त्या तं नरसीभक्तं वन्दे परमवैष्णवम् ॥७३॥
नमोऽस्तु सततं तस्मै गुरवे नानकाय च ।
सर्वधर्मैक्यमाधातुं यापितं येन जीवनम् ॥७४॥
अभिन्नत्वमुपास्यानां येन सम्यक् प्रचारितम् ।
सर्वलोकप्रियं भक्तं तं कबीरं नमाम्यहम् ॥७५॥
अभङ्गवाणी यस्याऽभूद वेदवाणीव वंदिता ।
तं वन्दे श्री-तुकारामं हरिभक्तिप्रचारकम् ॥७६॥
वीरगर्जनया लोकाः स्वातंत्र्याभिमुखीकृताः ।
येन श्रीरामदासं तं वन्दे राष्ट्रगुरुं सदा ॥७७॥
आविष्कृतप्रतापौ च देशरक्षणसंगरे ।
हुतात्मानौ सदा वन्दे तौ पृथ्वीराजदाहिरौ ॥७८॥
बप्पराजं बलाढ्यं तं गुणाढ्यं कुम्भभूपतिम् ।
संग्रामसिंहं सत्त्वाढ्य सततं हृदि चिन्तये ॥७९॥
तमग्रगण्यं धीराणां स्वस्वरक्षणतत्परम् ।
प्रतापसिंहं वन्देऽहं लोकोत्तरपराक्रमम् ॥८०॥
स्वातन्त्र्यसंकटे घोरे प्रज्ञाविक्रमभक्तयः ।
नूनं प्रकटिता येन दुर्गादासं नमामि तम् ॥८१॥
स्वधर्मस्य स्वदेशस्य स्वसमाजस्य योऽकरोत् ।
स्वशक्त्यैव समुद्धारं शिवराजं नमामि तम् ॥८२॥
नमो गोविन्दसिंहाय समूर्जस्वलतेजसे ।
वीरव्रतैकनिष्ठाय धर्मरक्षणकारिणे ॥८३॥
परदास्यरतो भर्ता यया सम्यक् प्रबोधितः ।
सारन्धा सा सदा वन्द्या स्त्रीधर्मपथदीपिका ॥८४॥
वन्दे देवीमहल्यां तां न्यायान्यायविवेकिनीम् ।
दुर्वृत्तोऽपक्षपातेन यया पुत्रोऽपि दण्डितः ॥८५॥
नारीकुलयशोमूर्तिं स्वातन्त्र्यरणरागिणीम् ।
उग्रतेजस्विनीं लक्ष्मीं वन्दे विक्रमशालिनीम् ॥८६॥

जडवादजडीभूते लोकेऽस्मिन् येन दीपितम् ।
दिव्यमाध्यात्मिकं तेजो रामकृष्णं नमामि तम् ॥८७॥
नीतं परमहंसस्य जीवितं परिपूर्णताम् ।
यदर्धाङ्गी-पदत्वेन तां वन्दे शारदासतीम् ॥८८॥
विश्वख्यातं कृतं येन भारतस्योज्ज्वलं यशः ।
वन्दे विवेकानंदं तं वेदान्तपथदर्शकम् ॥८९॥
स्वधर्मो मूर्च्छितप्रायो येन संजीवितः पुनः ।
तमार्यवीरं वन्देऽहं श्रीदयानन्दमादरात् ॥९०॥
श्रीलोकमान्यं तिलकं कर्मयोगप्रवर्तकम् ।
वन्दे परिणतप्रज्ञं राष्ट्रकार्यधुरन्धरम् ॥९१॥
स्वार्थासक्तमनस्कानां स्वराष्ट्रहितसाधने ।
स्फूर्तिरुद्दीपिता येन रामतीर्थं नमामि तम् ॥९२॥
प्रतिभातेजसा यस्य बभूव परमोज्ज्वलम् ।
भारतस्य यशो लोके रवीन्द्रं चिन्तयामि तम् ॥९३॥
विज्ञातं विश्वगूढं तद्येन विज्ञानचक्षुषा ।
तं विज्ञानविशेषज्ञं जगदीशं नमाम्यहम् ॥९४॥
प्रसुप्ताऽपि हि सा येन राष्ट्रशक्तिः प्रबोधिता ।
संघमन्त्रसमुद्घोषैः केशवं प्रणमामि तम् ॥९५॥
पावित्र्यमयचारित्र्यं धर्मसेवापरायणम् ।
विद्यादानव्रतस्थं तं वन्दे मदनमोहनम् ॥९६॥
जगद्हितैकनिष्ठाय सत्यशान्तिप्रचारिणे ।
नमो मोहनदासाय विख्याताय महात्मने ॥९७॥
स्वधर्मैकदृढश्रद्धं शस्त्रक्रान्तिप्रचारकम् ।
वन्दे हरदयालं तं वीरवर्यप्रशंसितम् ॥९८॥

यैः शक्तिश्च मतिश्च भक्तिरिह संपत्तिश्च मूर्तिर्निजा
निष्कामं क्षणशोऽथवापि कणशः प्रत्यर्पिता सर्वशः ।
लोकस्यैव हिताय केवलमहो सौख्याय सर्वस्य च
अज्ञातानपि तान् विचिन्तयति मे नित्यं कृतज्ञं मनः ९९
येषां मङ्गलदर्शनेन विलयं गच्छेत्सदाऽमङ्गलम्
मौनेनैव हि केवलेन जगतस्तत्त्वावबोधो भवेत् ।
यत्पुण्यस्मरणेन विस्मरणमात्येव दुश्चिन्तनम्
ते साक्षात्परमेश्वरस्य भुवने दिव्यावतारा ध्रुवम् १००
पुण्यश्लोकाष्टोत्तरशतनामयुता शतश्लोकी ।
माला विमला राजतु कण्ठे जनता जनार्दनस्येयम् ॥
विभूतिवन्दना स्तोत्रं य इदं हृदि धारयेत् ।
तस्येशकृपया नित्यं "दैवी संपद्" विवर्धताम् ॥

महात्मानः

▲

येषां मङ्गलदर्शनेन कलुषं गच्छेत्सदाऽदर्शनं
मौनेनैव हि केवलेन जगतस्तत्वावबोधो भवेत्।
सत्पुण्यस्मरणेन विस्मरणमायात्येव दुश्चिन्तनं
ते साक्षात्परमेश्वरस्य भुवने पूर्णावतारा ध्रुवम् ॥१॥

शस्त्राग्रे रणचण्डिकाऽरिरुधिरासक्ता स्फुरद्रूपिणी
जिव्हाग्रे च सरस्वती रसवती सर्वान्तराकर्षिणी ।
हस्ताग्रे रमते तथा भगवती लक्ष्मीर्जनानन्दिनी
यस्यैवङ्गुणमण्डित. स सततं लोकाग्रवर्ती पुमान् ॥२॥

ये पुण्यशीलाश्च तपस्विनश्च
ये लोकमान्याश्च दृढव्रताश्च ।
तेषां विधात्रा विहितो निवास·
कारागृहे, राजगृहे खलानाम् ॥ ३ ॥

दहति दहनः कृष्यां भूमिं करोति फलप्रदां
रविरपि रसाऽऽदानं दातुं करोति तपन्नपि ।
दुरभि-गमनो हैमः शैल सरित्परिपूरक
प्रकृतिमहतां दोषोऽप्येषां ध्रुवं सुगुणावहः ॥ ४ ॥

दावाग्निः स बिभर्ति जातु जटिल ज्वाला जटालो महान्
सामर्थ्यं यदपि प्रचण्डतिमिरध्वंसक्षमं सर्वथा ।
एकान्ते परिमन्दमन्दमभितस्तेजश्चिर तन्वतः
तात्पवित्र्यमहो कथ स लभतां नीराजनज्योतिषः॥५॥

मौनायन्ते भृशकलकले कोकिला भेकवृन्दे
निष्पुष्पोऽसौ कुसुमबहुले पारिजातो वसन्ते ।
ताराक्रान्ते नभसि सविता पश्चिमाद्रौ प्रशेते
औदासीन्यं भजति हि महान् यत्र नीचोऽग्रगामी॥६॥

न्याये विनम्राऽऽदरभावतो या
गर्वोन्नताऽन्यायविधौ प्रकामम् ।
धूलीकनेतृत्व पदस्य नूनम्
स्थिरायते तत्र हि कन्धरायाम् ॥ ७ ॥

अम्भोवाहो नयनरुचिरां पौण्डरीकी कदाचित्
धत्ते कान्तिं क्वचिदथतथा तप्तकार्तस्वरस्य ।
मुक्ताकारान् विकिरति मनोहारिणःस्वातिबिन्दून्
ऐश्वर्यं तत्प्रकृतिमहतां केन वा वर्णनीयम् ॥८॥

रात्रिन्दिवं वसति पङ्कजमम्बुमध्ये
पुष्णन्ति चापि सुफलान्यरसैः पयोभि ।
कामं चरन्ति सुजना अपि दुर्जनेषु
नाङ्गीकृता तदपि तैर्विकृतिस्तदीया ॥ ९ ॥

मां पावयन्तीह न साधवस्ते
वचोविलासैर्बत मौनभाजः।
इत्यात्मपुण्यार्थमिवैतदीये
गुणे प्रकाशं स्वयमेति वाणी ॥१०॥

नैके विदन्ति परकीयगुणं कदापि
गर्हन्ति केचन तमेव हि दोषतुल्यम् ।
ज्ञात्वा जडा इव हि केचिदुदासतेऽन्ये
हृष्यन्ति तेन विकसन्ति च सन्त एव ॥११॥

हृदि पापं, दृशि पापं, वाचि च पापं विलोक्य हि जनानाम् ।
अशरणमिव पुण्यं भुवि कथमपि कंचन समाश्रयते१२

ऋषयः खलु ते महाजनाः
मृदुचित्ता अपि ये दृढव्रताः ।
जगतामुपकारहेतवे
गतचिन्ता अपि ये सचिन्तना ॥ १३ ॥

कि हंसी सिकतासु तुष्यति लसन्मुक्ताकणास्वादिनी
किं वा दग्धवने रमेत नितरां चूतप्रिया कोकिला ।
किं दृष्टा भ्रमरी कदापि कुटजे फुल्लारविन्दप्रिया
किं कल्याणपरायणा सुजनधीः संचिन्तयेत् पातकम् ॥ १४ ॥

सद्भावनाविलसितं हृदय विशाल
नाम्भोधिना तुलय भंगुरबुद्बुदेन ।
एतच्चिरतनविराजदनन्ततारम्
नालोकित किमतुल गगनोपमानम् ॥ १५ ॥

मौनं मुनीनां सहजः स्वभावः
वाक्पाटव ते यदि दर्शयेयु· ।
वाक्पाटवैकप्रथिताभिधेयाः
तेनैव मौनं सहसा भजेरन् ॥ १६ ॥

चिरं निपीताः सुखयन्ति मानसं
याः किल्बिषं वाऽपि दहन्ति मानसम् ।
पीयूषपूर्णा अपि वह्निगर्भाः
वाचो निपेया महतां सदैव ॥ १७ ॥

साभिलाषाः फलादीनां सेवन्ते बहवो हि माम् ।
निरीहं घनधाराभिर्वर्षन्नेको हि दृश्यते ॥ १८ ॥

वारां निधि· किमभिशुष्यति बिन्दुनाशे
पर्णेऽथवा विगलिते किमरण्यनाशः ।
हानिं किमद्रिपतिरेति कणप्रणाशे
सन्तस्त्यजन्ति तनुमित्यवगत्य कायम् ॥ १९ ॥

माधुर्यं वचसां गुणश्च चरिते शान्तः प्रधानो रसः
बोधव्यंञ्जकता तथा प्रतिपदं सच्छास्त्रपूता गिरः ।
दोषः क्वापि कदापि नैव घटितो, नालंकृतौ वासना
तन्मन्येऽखिल लोकनिर्वृतिकरं काव्यं सतां जीवितम् ॥ २० ॥

● ● ●

बम्बई विश्वविद्यालयने ये मंत्र बी. ए. ऑनर्सके लिये नियत किये हैं।

अग्नि--देवता

१ (ऋग्वेद १।१४३)

(दीर्घतमा औचथ्यः । अग्निः । जगती, ८ त्रिष्टुप्)

प्र तव्यसीं नव्यसीं धीतिं अग्नये
वाचो मतिं सहसः सूनवे भरे ।
अपां न-पाद् यो वसुभिः सह प्रियो
होता पृथिव्यां न्यसीदद् ऋत्वियः ॥ १ ॥

शब्दार्थ- (यः) जो (अपां न-पात्) जलोंको न गिरानेवाला, (ऋत्वियः) ऋतुके अनुसार योग्य समयमें योग्य कर्म करनेवाला, (होता) विबुधोंको बुलानेवाला अथवा अपने साथ लानेवाला अतएव (प्रियः) सबको प्रिय है, उस (सहसः सूनवे) बलके पुत्र (अग्नये) अग्निके लिये मैं (नव्यसीं) नवीन (तव्यसीं) शक्ति बढानेवाली (वाचः धीतिं मतिं) वाणीकी धारणावती मतिको (प्र भरे) भर देता हूं; प्रकर्षसे उसके गुणोंका वर्णन करता हूं। यह अग्नि (वसुभिः सह) वसुओंके साथ (पृथिव्यां) पृथिवीपर (नि असीदत्) बैठता है।

भावार्थ – जो जीवनोंको न गिरानेवाला, ऋतुके अनुसार समयके योग्य कर्म करनेवाला, विबुधोंको बुलाकर अपने साथ लानेवाला इस कारण सबको प्रिय है, उस तेजस्वी और सामर्थ्यके पुत्र (अग्नि) देवके नवीन सामर्थ्य बढानेवाले वाणीकी धारणाशक्ति युक्त मतिको- अर्थात् स्तोत्रको- मैं भर देता हूं, उसके गुण गाता हूं। वह अग्नि देव वसुओंके साथ इस पृथ्वीपर बैठता है।

पदोंके विशेष अर्थ

(१) **अपां न-पात्** - (अपां) जलोंको (न-पात्) न गिरानेवाला, मेघोंमें रहनेवाले जलको उनमें रहा अग्नि नीचे गिरनेसे रोकता है। जलकी भांप बनाकर अग्नि जलको ऊपर भेजता है। नीचे नहीं गिरने देता। जलको नीचे गिरनेसे रोकता है। जलवाचक पद ये हैं— निघण्टु. १।१२ में जलके नाम १०१ दिये हैं, उनमें ये नाम हैं- "**रेतः। जन्म। सहः। ओजः। सुखं। क्षत्रं। आपः। यशः। अन्नं। पवित्रं। वपुः। शुक्रं। तेजः।**" इनमें '**रेतः, शुक्रं**' ये पद जलवाचक होते हुए मनुष्यके वीर्यके वाचक हैं। ऐतरेय उपनिषद्में '**आपो रेतो भूत्वा शिश्नं प्राविशन्।**' (ऐ० उ० १।४) 'जल रेत बनकर शिश्नमें प्रविष्ट हुआ ऐसा कहा है। '**ओजः, सहः, क्षत्रं**' ये पद बलके वाचक हैं। '**वपु**' पद शरीरका वाचक है। अन्य पदोंका अर्थ स्पष्ट है। जलका नाम '**जीवन**' भी प्रसिद्ध है। '**अपां**' के ये अर्थ लेनेसे (१) **वीर्य**को न गिरानेवाला, (२) **सामर्थ्य**की गिरावट न करनेवाला, (३) **शरीर**की अधोगति न करनेवाला, (४) **तेज, यश, पवित्रता, सुख, जन्म** आदिको न गिरानेवाला ये अर्थ '**अपां न-पात्**' के श्लेषार्थ देखनेकी पद्धतिसे ध्यानमें आ सकते हैं। जीवनको न गिरानेवाला यही इन सबका तात्पर्य है। उक्त अनेक गिरावटोंसे जीवनको सुरक्षित उच्च अवस्थामें रखनेवाला, जीवनको उच्च बनानेवाला, जीवनको श्रेष्ठ बनानेवाला, ऐसा भाव इस पदमें हैं। अथर्ववेदके ब्रह्मचर्य सूक्तमें मेघके ब्रह्मचर्यव्रतका वर्णन है—

अभिक्रन्दन् स्तनयन् अरुणः शितिंगो
बृहच्छेपोऽनु भूमौ जभार।
ब्रह्मचारी सिंचति सानौ रेतः पृथिव्यां
तेन जीवन्ति प्रदिशः चतस्रः ॥ अथर्व० ११।५।१२

'गर्जना करता हुआ बडे आकारवाला अरुण रंगवाला (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी मेघ पृथ्वीके ऊंचे स्थानपर (रेतः) जलकी वृष्टी करता है, जिससे चारों दिशाएं जीवित रहती हैं।' यहां मेघको ब्रह्मचारी कहा है, ऋतुकालमें- वर्षाऋतुमें ही वह

(रेत.) जलरूप वीर्यका सिंचन करता है। यहां ऋतुकालमें जलसिंचन-'रेतः सिंचन' आदि भाव समझे जाने योग्य हैं। वही भाव '**अपां न-पात्**' पदमें है। इस पदका '**रेतसां न-पात्**' ऐसा भी पद बना सकते हैं जिसमे श्लेषार्थका स्पष्टीकरण सहजहीसे हो सकता है।

यह पद अत्यंत महत्त्वका है, इसलिये इसके अर्थ और श्लेषार्थोंको पाठक स्मरण और ध्यानपूर्वक अपने मनमें धारण करें।

'**जीवनस्य न पातयिता**' जीवनको न गिरानेवाला यह इसका संक्षिप्त आशय है। कर्मोंको न गिरानेवाला यह भी इसका भाव है। अग्नि यज्ञ कराता है, यज्ञकर्मको गिरने नहीं देता। कर्मको न गिरने देना यह अग्निका गुण यहां बताया है। अग्नि यज्ञमें रहता है और यज्ञरूपी प्रशस्त कर्मको पूर्ण करनेमें सहायक होता है। यही कर्मोंको न गिरानेका भाव इस पदने बताया है।

यह '**अपां न-पात्**' पद मनुष्यको ब्रह्मचर्य पालनपूर्वक वीर्य रक्षण करनेका, तथा प्रशस्त कर्मोंको करनेका उपदेश दे रहा है। ऊर्ध्वरेता बननेकी सूचना यहां मिलती है।

'**आपः कर्माख्यायां ह्रस्वो नुट् च वा स्यात्।**'

(उणादि ४।२०७)

'कर्म' अर्थमें 'आपः' पद है। यह इस विषयका प्रमाण है 'कर्मोंको न गिरानेवाला' यह अर्थ इसका होता है। कर्मोंको न गिरानेसे ही मानवकी उन्नति होती है।

(२) ऋत्वियः— ऋतुके अनुसार करने योग्य कर्म करनेवाला। जिस ऋतुमें जो कर्म करना चाहिये वह उस ऋतुमें यह करता है। वर्षमें वसंत, ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्त और शिशिर ये ऋतु होते हैं। मानवी आयुमें बाल्य, कौमार, तारुण्य, प्रौढत्व, वार्धक्य और जीर्णत्व ये ऋतु होते हैं। इन ऋतुओंमें करने योग्य कर्म पृथक् पृथक् होते हैं। यह ऋतुके अनुसार जो कार्य करना योग्य है वह यथायोग्य रीतिसे करता है। अयोग्य समयमें कदापि अयोग्य कार्य नहीं करेगा।

"**ऋतुसंधिषु वै व्याधिर्जायते।**
ऋतुसंधिषु यज्ञाः क्रियन्ते॥"

(गोपथ ब्रा० १।१९)

ऋतुकी संधियोंमें व्याधियां उत्पन्न होती है, इसलिये उनके निवारण करनेके लिये यज्ञ किये जाते हैं। इनमें नाना औषधियोंका हवन होता है। अग्निमें ये यज्ञ होते हैं इसलिये अग्निका यह गुण है। अग्नि ही ऋतुके अनुसार यज्ञ कर्म करता है अथवा कराता है। इस तरह मनुष्य ऋतुके अनुरूप कर्म करे।

(३) होता – (हु दानादानयोः) दाता और आदाता। तथा (आव्हाता) देवोंको बुलाकर अपने साथ लानेवाला। विबुधोंको बुलाकर अपने साथ लानेवाला। हीन, दुष्ट, छली, कपटियोंको अपने साथ कदापि न रखनेवाला। सदा विबुधोंकी संगतिमें ही रहनेवाला। मनुष्य विबुधोंके साथ रहे।

(४) प्रियः – सबको प्रिय, सबका प्यारा। अनुयायियोंका हित करनेवाला। जो जीवनको न गिरानेवाला, ऋतुके अनुसार योग्य कर्म योग्य रीतिसे करनेवाला और दाता हो वह सबको प्रिय होगा ही। सबको प्रिय होनेके ये हेतु हैं।

(५) सहसः सूनुः – बलका पुत्र। बलसे उत्पन्न होनेवाला। (**सु प्रसव-ऐश्वर्ययोः**) **सू** का अर्थ प्रसव करना और ऐश्वर्य बढाना है। '**सूनु**' का भी अर्थ प्रसव करनेवाला और ऐश्वर्यका भाव बढानेवाला है। '**सहसः सूनुः**' का अर्थ 'साहस, बल या सामर्थ्यकी उत्पत्ति करके उससे ऐश्वर्यके भावको बढानेवाला' है। बलको बढानेके लिये ही उत्पन्न हुआ। अग्निकी उत्पत्ति बलसे होती है। दो अरणीयोंके (दो लकडियोंके) घर्षणसे अग्नि उत्पन्न होता है। इस घर्षणके लिये बल लगता है। बिना बलके घर्षण नहीं होगा और अग्निरूप वीर्यवान पुत्र भी उत्पन्न नहीं होगा। मातापिताके बलसे ही पुत्र उत्पन्न होता है। इसलिये बलसे ही पुत्र होता है। बल पिता है उसका पुत्र पिताके बलके कार्यको बढावे और पिताका यश फैलावे। '**अनुव्रतः पितुः पुत्रः**' (अथर्व० ३।३०।२) पिताके अनुकूल कार्य करनेवाला पुत्र हो। बलका पुत्र बलको बढानेवाला हो। साहसको बढानेवाला हो।

(६) अग्नि – '**अग्निः कस्मात् अग्रणीर्भवति।**' (निरुक्त ७।१४) अग्नि आग है। यह अग्नि अपने प्रकाशसे अन्धेरेमें लोगोंको मार्ग बताता है। (**अग्रं प्रणीयते**) अग्रतक पहुंचाता है, अन्तिम स्थानतक पहुंचाता है। अन्धेरेमें प्रकाश दिखाता है, मार्ग दिखाता है और जहां पहुंचना है वहां पहुंचा देता है। (**अग्रं नयति इति अग्रणीः एव अग्निः**) अन्ततक पहुंचाता है वह अग्रणी है। '**अग्रणी**' का '**अग्नि**' बना है। '**अ-ग्-र्-अ-न्-ई**' का 'र्' जाकर 'अग्रणीका ही अग्नि' बना है। पहिले इसको 'अग्रेणी अग्रणी' बोलते थे, उसीका संक्षिप्त रूप 'अग्+नी' हो गया, वही यह अग्नि अग्रणी ही है। अग्निमें इस तरह 'अग्र-णी-पन' है। अग्रणीके गुण ही इस मंत्रमें वर्णन किये हैं—

१ (अपां न-पात्)- अग्रणी अनुयायियोंके जीवनका अधःपात करनेवाला न हो ।

२ (ऋत्वियः)- अग्रणी ऋतुके अनुकूल उत्तम रीतिसे कर्म करनेवाला हो।

३ (होता)- अग्रणी सुखका दाता, शुभ पदार्थोंका आदाता और विबुधोंको अपने साथ लानेवाला हो ।

४ (प्रियः)- अग्रणी उक्त गुणोंके कारण सब अनुयायियोंको प्रिय हो ।

५ (सहसः सूनुः)- अग्रणी बलके बढानेके लिये ही जन्मा हो, उसका जीवन ही अनुयायियोंका बल बढानेके लिये लगा रहे । वह बल बढावे ।

६ (अग्निः)- अग्रतक, सिद्धितक अनुयायियोंको ले जानेवाला हो, अग्रणी ऐसा हो।

ये गुण राजामें, नेतामें, प्रमुख वीरमें तथा विशेष स्थानमें रहनेवाले मनुष्यमें घटाकर देखने योग्य हैं ।

(७) यह 'वसुभिः पृथिव्यां न्यसीदत्'— वसुओंके साथ इस पृथिवीपर बैठता है, रहता है, विराजता है । वसु आठ हैं—

कतमे वसव इति, अग्निश्च पृथिवी च वायुश्च अन्तरिक्षं च आदित्यश्च द्यौश्च चन्द्रमाश्च नक्षत्राणि च एते वसव एतेषु हीदं सर्वं हितमिति, तस्माद्वसव इति । बृ० उ० ३।९।३

' अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौः, चन्द्रमा, और नक्षत्र ये आठ वसु हैं । वसु उनको कहते हैं कि जो सब विश्वको वसाते हैं, सबको रहनेके लिये स्थान देते हैं । ' पृथिवी आदिपर सबका निवास होता है इसलिये ये वसु हैं । वसु दूसरे भी कहे हैं-

**धरो ध्रुवश्च सोमश्च अहश्चैवानिलोऽनलः ।
प्रत्यूषश्च प्रभासश्च वसवोऽष्टाविति स्मृताः॥**

(धरः) आधार, पर्वत, पृथिवी, (ध्रुवः) स्थिर, काल, (सोमः) सोमवल्ली, औषधी, चन्द्रमा, (अहः) दिन, (अनिलः) वायु, (अनलः) अग्नि, (प्रत्यूषः) उषःकाल, सूर्य, (प्रभासः) तेज, प्रकाश ये आठ वसु हैं ऐसी कईयोंकी संमति है । यहां भी पृथिवी, अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य, वायु, औषधि, काल, और प्रकाश ये आठ वसु कहे हैं । ये मनुष्यादिकोंको यहां वसनेके लिये सहायक होते हैं, इसलिये ये वसु कहलाते हैं । यहां कई लोग ' अहः ' के स्थानपर ' आपः ' का पाठ करते हैं । इस तरह पाठ माननेसे " पृथ्वी, आप, तेज, वायु, आकाश, औषधि, काल और चन्द्रमा " ये आठ वसु होते हैं । इस गणनामें मतभेद भी अनेक हैं । तथापि ये आठ यहां सबको वसानेवाले हैं, इसमें संदेह नहीं है । अग्रणी ये आठ प्रकारके वसु (धन) अपने साथ रखता है और सबको सुखसे वसाता है । ' वसु ' का अर्थ ' निवास करानेवाला, जिससे मनुष्यका निवास यहां सुखसे हो सकता है । वसुका अर्थ ' धन ' भी है । ये सब वसु मनुष्यको सुखसे बसानेवाले हैं । अग्निके साथ ये अष्ट वसु देव रहते हैं । अग्रणी भी इनकी सहायतासे अपने अनुयायिको सुखसे वसावे । जैसा अग्नि अपने उपासकोंको इन वसुओंको सहायतासे वसाता है, वैसा ही अग्रणी भी करे ।

(८) नव्यसीं तव्यसीं वाचः धीतिं मतिं अग्नये प्रभरे- नवीन बलको बढानेवाली, धारणावती बुद्धिको, विचार प्रवर्तक मतिको, अग्निके लिये मैं वाणीके अन्दर भर देता हूं। अग्निकी मैं स्तुति करता हूं कि जो वाणीमें नवीन बलको तथा नवीन विचारधाराको भर देता है, सुविचारोंको बढाता है । जो वाणीमें उत्तम विचारोंको बढाता है, ऐसा स्तोत्र मैं अग्निकी प्रसंशामें गाता हूं । इस स्तोत्रका गान करनेसे गानेवालोंके अन्दर नवीन विचारधारा फैलेगी, बल बढेगा और नवीन रीतिसे मनन करनेकी शक्ति उत्पन्न होगी । इस स्तोत्रके गान करनेसे मनुष्यकी उन्नति होती है । अग्निदेव जो करते हैं वैसा हम करें ऐसी बुद्धि भक्तमें उत्पन्न होती है ।

यत् देवा अकुर्वन्, तत् करवाणि । श० ब्रा०

' जैसा देव आचरण करते हैं, वैसा आचरण मैं करूंगा । ' देवताका आचरण मेरे सामने आदर्श है । ऐसा भक्त मानता है और देवताके गुण अपने अन्दर स्थिर करने लगता है । इस तरह देवताका वर्णन गानेसे मानवकी उन्नति होती है । क्योंकि वह देवताके समान बननेका यत्न करता है ।

यहां अग्निदेवके गुण (१) जीवनका अधःपात न करना, (२) ऋतुके अनुसार कर्म करना, (३) दान देना, विद्वानोंके साथ रहना, (४) प्रिय होना, (५) बल बढाना, और (६) शुभ कर्म सिद्धि प्राप्त होनेतक करना ये कहे हैं । ये शुभ गुण मनुष्य अपने अन्दर धारण करें और बढावें ।

इस मंत्रका भावार्थ- जो अग्रणी सत्कर्मोंका अधःपात होने नहीं देता, ऋतुके अनुकूल सब व्यवहार करता है, जो

दान देता है अर्थात् उदार स्वभावका है, अतएव जो सबको प्रिय है, वह अपने अनुयायियोंका सुखसे निवास करनेका यत्न करे, वह अपने अनुयायियोंमें रहे और उन अनुयायियोंका सुख बढावे। ऐसे अग्रणीका गुणगान मै करता हू, यह गुणगानका स्तोत्र उसका गान करनेवालोंका बल बढावेगा, वाणीकी शक्ति संवर्धित करेगा और उनमें मनन करनेका सामर्थ्य बढायेगा ॥

इस मंत्रमें सुभाषित

१ तव्यसीं वाचः मतिं प्रभरे- बल बढानेवाले वाणीके द्वारा मनन करने योग्य विचार मैं संग्रहित करता हू।

२ वाचः नव्यसीं धीतिं प्रभरे- वाणीके द्वारा नवीन धारणाकी शक्ति बढानेवाले मनन करने योग्य काव्य मैं विशेष रीतिसे भर देता हू। करता हूं।

मैं ऐसा भाषण कदापि नहीं करूंगा कि जिससे शक्ति क्षीण हो, धारणाशक्ति न्यून हो और जिससे मानवका अधःपात हो जाय।

स जायमानः परमे व्योम-
न्याविरग्निरभवन्मातरिश्वने।
अस्य क्रत्वा समिधानस्य मज्मना
प्र द्यावा शोचिः पृथिवी अरोचयत् ॥ २ ॥

(जायमानः सः अग्निः) उत्पन्न होते ही वह अग्नि (परमे व्योमनि) परम विस्तृत आकाशमें (मातरिश्वने आविः अभवत) वायुके सामने प्रकट हुआ। [अग्नि उत्पन्न होते ही उसका वायुके साथ संबंध हुआ और वह अग्नि वायुका संबंध होते ही अधिक जोरसे जलने लगा।] और (मज्मना क्रत्वा) इस बलवर्धक कर्मसे (समिधानस्य अस्य शोचिः) प्रदीप्त होनेवाले इस अग्निका प्रकाश (द्यावा पृथिवी प्र अरोचयत्) द्युलोक और पृथिवीको प्रकाशित करने लगा ॥ २ ॥

अग्नि उत्पन्न होनेपर जब वह जलने लगता है, तब उसको वायुकी सहायता तत्काल मिलती है। इससे अग्नि अधिक प्रज्वलित होता है और पृथिवीसे लेकर आकाशमें रहे पदार्थोंको प्रकाशित करने लगता है।

मातरि-श्वा— (मातरि) माताके आधारमें (श्वसिति) जो श्वास लेता है, जीवित रहता है, प्राण धारण करता है, प्रगति और वृद्धि (श्वि गतिवृद्धौ) करता है वह '**मातरिश्वा**' है। (१) गर्भस्थ जीव '**मातरि-श्वा**' है, क्योंकि वह माताके आधारसे श्वास लेता है। (२) मातृभूमिके हितार्थ (मातरि श्वा) जो श्वास लेता है, मातृभूमिमें प्रगति और सुखसमृद्धि करनेके लिये (श्वि गतिवृद्धौ) जो जीवन धारण करता है वह वीर भी 'मातरि-श्वा' है। (३) (मातरि) आकाश में जो श्वास लेता है वह मातरिश्वा 'वायु' है।

'**अग्नि**' अग्रणी है। वह अग्रणी प्रकट होते ही उन वीरोंके साथ मिलता है कि, जो वीर मातृभूमिमें प्रगति और उन्नति करनेके लिये ही जीवन अर्पण करते हैं। विश्वमें वायु है, शरीरमें प्राण है और राष्ट्रमे स्वयंसेवक वीर हैं। विश्वमें वायु प्रचण्ड हलचल करता है, राष्ट्रमें स्वयंसेवक हलचल करते है और शरीरमें प्राणकी हलचल होती है। इसलिये ये तीनों ही मातरिश्वाके रूप हैं।

मातरिश्वाकी सहायता अग्निको मिलती है। विश्वमें वायुकी सहायता अग्निको मिलती है, शरीरमें प्राणकी सहायता शरीरके अग्नितत्त्वको मिलती है और राष्ट्रमें अग्रणीको राष्ट्रीय स्वयसेवकोंकी सहायता प्राप्त होती है। यहां 'मातरि-श्वा' पदमें यह श्लेष है, जिससे व्यक्ति, समाज या राष्ट्र और विश्वमें तीन प्रकारके अग्नियोंको तीन प्रकारके (मातरिश्वा) वायुओंकी सहायता मिलती है। यह पाठक देखें।

प्राण रुद्रका रूप है, प्राणको 'वीरभद्र' बोलते हैं। यह प्रजाका (भद्र) कल्याण करनेवाला वीर ही है। यही राष्ट्रमें स्वयंसेवक है और विश्वमें वायु है।

अस्य त्वेषा अजरा अस्य भानवः
सुसंदृशः सुप्रतीकस्य सुद्युतः।
भात्वक्षसो अत्यक्तुर्न सिन्धवो-
ऽग्ने रेजन्ते असस्रन्तो अजराः ॥३॥

(अस्य त्वेषाः अजराः) इस अग्निके किरण सतत चलनेवाले अथवा निस्तेज न होनेवाले हैं। (अस्य भानवः सुसंदृशः) इसके प्रकाश उत्तम दर्शनीय सुन्दर हैं। तथा इस (सुद्युतः सुप्रतीकस्य) अत्यंत तेजस्वी सुन्दर रूपवाले (भा-त्वक्षसः) प्रकाशरूपी बलवाले (अग्नेः) अग्निके (अजराः सिन्धवः) जरारहित गतिशील किरण (अक्तुः) रात्रीके अन्धकारमें भी (अ-ससन्तः न अति रेजन्ते) न ठहरते हुए, सतत चलनेमें भी कांपते नहीं, अन्धकारमें भी न डरते हुए चलते ही रहते हैं ॥ ३ ॥

अग्निके किरण निर्बल नहीं होते, वे अग्निकी अति तेजस्विताके कारण बडे रमणीय तथा सुन्दर होते हैं। इनका बल प्रकाशरूप होता है। इसके किरण अन्धेरेमें भी सतत प्रकाशते हुए, विश्राम न करते हुए, आलस्य न करते हुए आगे बढते रहते हैं। गाढ अन्धकारमें भी ये किरण न टरते हुए आगे बढते ही रहते हैं। निडरतासे अपना प्रकाश फैलानेका कार्य ये सतत करते ही रहते हैं।

सच्चे अग्रणीका तेज बढता रहता है, इसका सौंदर्य और इसका आकर्षण भी वृद्धिंगत होता जाता है। इसका यह तेज ही इसका सच्चा बल होता है। इसके विरोधियोंका प्रबल विरोध होनेपर भी, अन्धकारमें अग्निके तेजके समान, इस सच्चे अग्रणीके कार्यका तेज बढता ही जाता है। यह अग्रणी निडर होकर आगे अपना पाव बढाता जाता है। इस तरह अग्निके गुण अग्रणीमें देखे जाने चाहिये।

यमेरिरे भृगवो विश्ववेदसं
नाभा पृथिव्या भुवनस्य मज्मना।
अग्निं तं गीर्भिर्हिनुहि स्व आ दमे
य एको वस्वो वरुणो न राजति ॥ ४ ॥

(भृगवः) भृगुलोगोंने (पृथिव्याः नाभौ) पृथिवीके मध्यमें-इस वेदीमें (भुवनस्य मज्मना) भुवनकी शक्तिके साथ रहनेवाले (यं विश्ववेदसं) जिस सब धनको पास रखनेवाले, धनके स्वामी, अग्निको (आ ईरिरे) स्थापन किया था, (तं अग्निं) उस अग्निको (स्वे दमे) अपने घरमें, अपने स्थानमें (गीर्भिः आ हिनुहि) स्तुतियोंके साथ तुम भी प्रसन्न करो, प्राप्त करो, प्रदीप्त करो। (यः एकः) जो अग्नि अकेला ही (वरुणः न) वरुणके समान (वस्वः राजति) धनका प्रभु है, धनका राजा है ॥ ४ ॥

' भृगुः '— (पापस्य भर्जकः) पापको अपनी तपस्यासे जलानेवालेका नाम ' भृगु ' है। ये साधक अग्निको वेदीमें स्थापन करते हैं। इस अग्निमें भुवनकी सब शक्ति केन्द्रित हुई है और इस अग्निके पास सब धन रहता है, यह ये भृगु लोग देखते हैं। जैसा वरुण सब धनका स्वामी है, उसी तरह यह अग्नि भी सब धनका स्वामी है। इसके गुणोंका गान करो और अपने स्थानमें इसको प्रदीप्त करो।

१ भृगवः विश्ववेदसं आ ईरिरे— पापका नाश करनेवाले साधक धनके स्वामीको प्राप्त करते हैं।

२ पृथिव्या नाभौ भुवनस्य मज्मना विश्ववेदसं आ ईरिरे— पृथ्वीके मध्यमें, यज्ञके स्थानमें, भुवनकी शक्तिके साथ रहनेवाले सब धनोंके स्वामीको प्राप्त करते हैं।

३ तं अग्निं स्वे दमे गीर्भिः आ हिनुहि- उस अग्निको-उस तेजस्वी प्रभुको-अपने ही स्थानमें, अपने घरमें ही गुणगान करके प्राप्त करो। प्रसन्न करो।

४ यः एकः वस्वः राजति- वह अकेला प्रभु ही सब धनोंका राजा है। उसको प्राप्त करनेसे उसका धन सहजहीसे साधकको प्राप्त होगा।

अग्निके गुण

अग्निके गुण जो अग्रणीमें होने चाहिये वे ये हैं-

१ विश्ववेदाः- वह सब ज्ञानसे युक्त हो, वह सब धनसे युक्त हो, उसके पास धन हों, वह सब बातें जाने। अग्रणी ज्ञानी हो, उसके पास धन हो, वह सब बातें जाने।

२ एकः वस्वः राजति- वह अकेला ही सब धनका स्वामी है। अग्रणीके पास अपनी हलचल चलानेके लिये आवश्यक हो उतना धन होना ही चाहिये।

३ भृगवः विश्ववेदसं आ ईरिरे- पापका नाश करनेवाले, सदाचारी अनुयायी सब धनको अपने पास रखनेवाले अग्रणीको प्राप्त करें। नेताके अनुयायी पापाचारी न हों।

भावार्थ- पापोंका नाश करनेवाले साधक सब बातोंको यथावत् जाननेवाले ज्ञानी नेताको, ज्ञानी अग्रणीको अपने मध्यमें स्थानापन्न करते हैं। उसके साथ रहते हैं। मानवोंकी शक्ति अपने साथ रहे ऐसा प्रबंध नेताको करना चाहिये। राष्ट्रमें नेता ही कार्यक्षम होने चाहिये। उनके पास धनादि साधन भी पर्याप्त होने चाहिये। सच्चा नेता ही धनका स्वामी है। निर्बल पुरुष कदापि यह कार्य कर नहीं सकता।

न यो वराय मरुतामिव स्वनः
सेनेव सृष्टा दिव्या यथाशनिः।
अग्निर्जम्भैस्तिगितैरत्ति भर्वति
योधो न शत्रून् त्स वनान्यृञ्जते ॥ ५ ॥

(यः वराय न) जो अग्नि निवारण करनेके लिये शक्य नहीं है, जैसी (मरुतां स्वनः इव) मरुतोंकी गर्जना, (सृष्टा सेना इव) जैसी शत्रुपर भेजी सेना, (यथा दिव्या अशनिः) जैसी आकाशकी बिजली, [इनका निवारण नहीं किया जा सकता, उसी तरह अग्निका भी निवारण नहीं किया जा सकता।] (अग्निः तिगितैः जम्भैः अत्ति) अग्नि तीक्ष्ण दातोंसे- ज्वालाओंसे शत्रुको खाता है और (भर्वति) शत्रुका नाश करता है। (योधः शत्रून् न) जैसा वीर शत्रुका नाश करता है, वैसा ही यह अग्नि (सः वनानि ऋञ्जते) वनोंको जलाता है, खाता है ॥५॥

यहां अग्निका सामर्थ्य वर्णन किया है। किसी दूसरेके द्वारा उसके कार्यमें प्रतिबंध नहीं किया जा सकता।

१ मरुतां स्वनः वराय न — वायुके वेगके शब्दको रोकना अशक्य है, वैसी ही (मरुतों=मा- रुद) वीरोंकी घोषणाका प्रतिबंध नहीं किया जा सकता, क्योंकि वे (मा-रुद) रोते बैठते नहीं, परंतु (मर् -उत्) मरनेतक उठकर शत्रुके साथ लडते रहते हैं, ऐसे वीरोंके शब्दका, उनकी घोषणाका प्रतिकार कोई नहीं कर सकता।

२ सृष्टा सेना इव — जैसी शत्रुपर आक्रमण करनेवाली सेनाको रोकना असंभव है, वैसा ही अग्निके कार्यको रोकना अशक्य है।

३ यथा दिव्या अशनिः — जैसी आकाशकी बिजली जहां गिरती है, वहां उसको रोकना असंभव है, वैसा ही अग्निका कार्य रोकना असंभव है।

४ योधः शत्रून् न — जैसा वीर शत्रुका नाश करता है, वैसा अग्नि शत्रुका नाश करता है।

५ अग्निः तिगितैः जम्भैः अत्ति, भर्वति, वनानि ऋञ्जते - अग्नि अपने तीक्ष्ण दातोंसे वृक्षोंको खाता है, उनका नाश करता है और वनोंको जलाता है, वैसा अग्रणी वीर शत्रुका नाश करे।

अग्नि जैसा शत्रुका नाश करनेवाला वीर हो। अग्नि जैसा वनोंको जलाता है वैसा अग्रणी वीर अपने राष्ट्रके शत्रुओंका नाश करे। अग्निको जैसा कोई वनोंको जलानेके समय नहीं रोक सकता, वैसा अग्रणी भी अपने सामर्थ्यमें शुभ कर्मोंको करनेके समय ऐसा प्रभावी हो, कि उसको कोई प्रतिबंध करनेमें समर्थ न हो सके।

कुविन्नो अग्निरुचथस्य वीरसद्
वसुष्कुविद् वसुभिः काममावरत् ।
चोदः कुवित् तुतुज्यात् सातये धियः
शुचिप्रतीकं तमया धिया गृणे ॥ ६ ॥

(अग्निः) यह अग्नि (नः उचथस्य) हमारी सूक्तोकी (कुवित् वीः असत्) वारंवार इच्छा करे, वारंवार हमारी सूक्ती सुनें। (वसुः) निवासकर्ता यह अग्नि (कुवित्) वारंवार (वसुभिः) अनेक धनोंसे धनोंके दानसे (कामं आवरत्) हमारी इच्छा पूर्ण करे। (चोदः) प्रेरणा करनेवाला अग्नि (धियः) हमारी बुद्धियोंको (सातये कुवित् तुतुज्यात्) लाभके लिये वारंवार प्रेरणा करे। (शुचि-प्रतीकं तं) शुद्धस्वरूपी उस अग्निका (अया धिया गृणे) इस बुद्धिसे मैं गुणगान करता हूं ॥ ६ ॥

अग्निके और अग्रणीके गुण

१ वीः — इच्छा, प्राप्ति, दीप्ति, सुन्दरता। **'उचथस्य-वीः'** - हमारी सूक्तीकी इच्छा करे। अनुयायी सूक्तिया बोले, उत्तम (सु-उक्ति) भाषण करें। ऐसी इच्छा अग्रणी करे।

२ चोदः — प्रेरणा करनेवाला, अनुयायियोंको शुभ कर्म करनेकी प्रेरणा करनेवाला, अग्रणी हो। अग्रणी अपने अनुयायियोंको शुभ कर्म करनेकी प्रेरणा करे।

३ शुचि-प्रतीकः — शुद्धता करना ही जिसका प्रतीक हो। शुद्धता ही जिसका चिन्ह हो। अपने अनुयायियोंकी पवित्रता करना अग्रणीका कर्तव्य है।

४ वसुः — (वासयिता) निवास करनेवाला, अग्रणी अपने अनुयायियोंका सुखमय निवास करनेवाला हो।

५ सातये धियः कुवित् तुतुज्यात् — अनुयायियोंके लाभ करनेके कार्योंमें उनकी बुद्धियोंको वारंवार प्रेरित करे। दान करनेके लिये बुद्धिको प्रेरित करे। अनुयायियोंका लाभ हो और उनमें दान करनेकी बुद्धि बढे ऐसा यत्न अग्रणी वारंवार करें।

ये गुण यहां अग्निके कहे हैं। येही गुण अग्रणीके हैं। ये ही गुण राजाके अथवा शासकके हैं।

भावार्थ - अग्रणी ऐसी इच्छा करे कि अपने अनुयायी उत्तम उक्तियां ही बोला करें। कुविचार कभी न बोलें। अनुयायियोंका निवास करनेवाला अग्रणी अनेक धनोंसे अनुयायियोंकी इच्छा पूर्ण करे। अग्रणी अपने अनुयायियोंमें दानका भाव तथा लाभ प्राप्त करनेके कार्य करनेका भाव बढावे। वह इस तरहकी अनुयायियोंमें प्रेरणा करे। अग्रणीका जीवनचिन्ह शुद्ध वा पवित्र रहे। ऐसे पवित्र जीवनवाले अग्निकी -अग्रणीकी - सर्वत्र स्तुति होगी।

घृतप्रतीकं व ऋतस्य धूर्षदं
अग्निं मित्रं न समिधान ऋञ्जते ।
इन्धानो अक्रो विदथेषु दीद्यच्-
छुक्रवर्णामुदु नो यंसते धियम् ॥ ७॥

(घृत-प्रतीकं) घीके हवनसे प्रदीप्त होनेवाले (वः ऋतस्य धूः-सदं) आपके यज्ञके अग्रभागमें बैठे हुए (अग्निं) अग्निको (समिधानः) प्रदीप्त करनेवाला (मित्रं न) मित्रके समान उसकी (ऋञ्जते) परिचर्या करता है। यह अग्नि (इन्धानः) प्रदीप्त होकर (अ-क्रः) शत्रुसे आक्रान्त नहीं होता, अतः (विदथेषु दीद्यत्) युद्धोंमें तेजस्वी होकर (नः शुक्रवर्णा धियं यंसते) हमारे शुद्धस्वरूपी कर्मोंको उत्कर्षयुक्त करता है ॥ ७॥

अग्निके तथा अग्रणीके गुण

१ घृत-प्रतीकं— घीसे जिसका अंग तेजस्वी होता है। घी खानेसे जिसका रूप तेजस्वी दीखता है।

२ ऋतस्य धूः-सदं — यज्ञमें प्रमुख स्थानमें बैठनेवाला, सत्कर्म करनेके लिये अग्रभागमें स्थित, शुभ कर्मोंको प्रमुख होकर करनेवाला। ऋत-यज्ञ, सत्य, सरल, सीधा व्यवहार।

३ अ-क्रः — शत्रुसे आक्रान्त न होनेवाला, शत्रुसे जो पराभूत नहीं होता, अपराभूत।

४ विदथेषु दीध्यत् — युद्धोंमें, सभाओंमें, यज्ञोंमें तेजस्वी, प्रकाशित होनेवाला।

५ शुक्रवर्णा धियं यंसत् — बल बढानेवाले पवित्र शुद्ध बुद्धिसे किये जानेवाले कर्मोंका उत्कर्ष करनेवाला, पवित्र बुद्धि रखनेवाला, निर्मल आचरण करनेवाला।

भावार्थ— घी भक्षण करके, तेजस्वी दीखनेवाले, सत्य धर्मके कर्मोंमें आगे होकर कार्य करनेवाले अग्रणीकी मित्रके समान जो सेवा करता है। वह अग्रणी सामर्थ्यवान् होकर शत्रुसे परास्त नहीं होता। युद्धोंमें तेजस्विता दिखाता है और निर्मल बुद्धिसे किये जानेवाले कर्मोंको बढाता है।

सत्य और शुभ कर्मोंमें आगे होकर कार्य करनेवाला, कर्मका नेता बनकर कर्मको यथासांग करनेवाला, बल बढानेवाली बुद्धिको बढानेवाला, पवित्र बुद्धिको बढानेवाला, बुद्धिकी पवित्रताको बढानेवाला अग्रणी हो। अग्रणी अशुचि कर्ममें न जाय, अशुभ कर्म न करे।

अप्रयुच्छन्नप्रयुच्छद्भिरग्ने
शिवेभिर्नः पायुभिः पाहि शग्मैः ।
अदब्धेभिरदृपितेभिरिष्टे-
ऽनिमिषद्भिः परि पाहि नो जाः ॥ ८॥

हे अग्ने ! (अ-प्रयुच्छन्) प्रमाद न करते हुए (अ-प्रयुच्छद्भिः शिवेभिः शग्मैः पायुभिः) प्रमादरहित कल्याण-कारक और सुखकारी संरक्षणके साधनोंसे (नः पाहि) हमारा संरक्षण कर। हे (इष्टे) इच्छा करनेयोग्य अग्ने ! (अ-दब्धेभिः अ-दृपितेभिः) न दब जानेवाले, न पराभूत होनेवाले तथा (अ-निमिषद्भिः) आलस्यरहित संरक्षणके साधनोंसे (नः जाः) हमारेसे उत्पन्न हुए पुत्रपौत्रादिकोंका (परि पाहि) संरक्षण कर ॥ ८॥

१ युच्छ- प्रमाद करना। **अ-प्र-युच्छन्-** प्रमाद न करनेवाला, योग्य रीतिसे कर्तव्य करनेवाला,

२ अ-दब्धः— शत्रुके दबावसे न दब जानेवाला,

३ अ-दृपित- (दृप्-उत्क्लेशे) क्लेशरहित, कष्टरहित, अपराभूत,

४ अ-निमिषन्- क्षणमात्र आंख भी बन्द न करते हुए। आलस्यरहित, नित्य दक्ष, सदा सावधान रहकर कार्य करनेवाला।

रक्षक कैसे हों ?

१ अ-प्र-युच्छन्— प्रमाद न करनेवाले रक्षक हों,

२ अ-दब्धः— शत्रुके दबावसे न दब जानेवाले रक्षक हों। शत्रुसे रिश्वत लेकर अथवा शत्रुके भयसे अपना कर्तव्य छोडनेवाले रक्षक न हों,

३ अ-दृपितः- रक्षण कार्य क्लेशपूर्ण है ऐसा मानकर उस कर्तव्यका त्याग करनेवाले न हों, शत्रुसे पराभूत होनेवाले न हों,

४ अ-निमिषन्- आंखका पलक भी न बंद करते हुए अपना कर्तव्य करनेवाले, आलस्यरहित, सदा दक्ष, सदा तत्पर और सावधान।

५ इष्टिः- सबको इष्ट, सबको प्रिय।

इस प्रकारके संरक्षक होने चाहिये। ग्रामरक्षक, राष्ट्ररक्षक, स्वयंसेवक आदि संरक्षकोंमें ये शुभ गुण चाहिये। अग्निमें ये गुण हैं तथा उनके पास जो संरक्षणके साधन है उनमें और उन साधनोंका उपयोग करनेवालोंमें भी ये ही गुण चाहिये। अग्निके गुण अग्रणी अथवा नेतामें होने चाहिये। अर्थात् लोकोंके **अग्रणीमें तथा उनके अनुयायियोंमें ये गुण अवश्य रहने चाहिये।**

२ अग्निः । (ऋ० ३।९)

(गाथिनो विश्वामित्रः । अग्निः । बृहती, ९ त्रिष्टुप् ।)

सखा॑यस्त्वा ववृमहे
दे॒वं मर्ता॑स ऊ॒तये॑ ।
अ॒पां नपा॑तं सु॒भगं॑ सु॒दीदि॑तिं
सु॒प्रतू॑र्तिमने॒हस॑म् ॥ १ ॥ ९

हे अग्ने ! हम सब (मर्तासः सखाय) मनुष्य एक कार्यमें लगे हुए (अपा न-पातं) कर्मोको न गिरानेवाले, जीवनको न गिरानेवाले, (सु-भग) उत्तम भाग्यवान् (सु-दीदिति) अत्यंत तेजस्वी (सु-प्रतूर्ति) उत्तम तारक (अनेहसं) और उपद्रवरहित ऐसे (त्वा देव) तुझ अग्नि देवको (ऊतये) हमारा संरक्षण करनेके लिये (ववृमहे) हम स्वीकार करते हैं ॥ १ ॥

१ **मर्तासः**— (मर्त) मनुष्य, मर्त्य, मरण स्वभावसे युक्त,

२ **अपां न-पात्**— कर्मोको, जीवनको न गिरानेवाला, (इस पदका अर्थ पूर्व सूक्तमें मन्त्र १ में [पृ० १-२ पर] देखो।)

३ **सु-भग**- उत्तम भाग्यसे संपन्न, धनसंपन्न,

४ **सु-दीति**- उत्तम तेजस्वी,

५ **सु-प्रतूर्ति**- उत्तम रीतिसे आपत्तियोंसे तारण करनेवाला, अग्रणी इन गुणोंसे युक्त हो ।

६ **सखायः**- (समानख्याना) एक कार्यमें संघटित मनुष्य, ऐसे मनुष्य इस तरहके अग्रणीको अपना नेता करके स्वीकार करें और उसके आदेशानुसार अपना कर्तव्य करें ।

भावार्थ- जो जीवनको गिरानेवाले कुकर्म नहीं करता जो भाग्यवान् है, ऐश्वर्यवान है, तेजस्वी है और आपत्तियोंसे उत्तम तारण करता है, कभी उपद्रव नहीं देता, ऐसे अग्रणीको हम सब एक कार्य करनेवाले लोग अपना उत्तम संरक्षण करनेके लिये नेता करके स्वीकार करते हैं ।

काय॑मानो व॒ना त्वं
यन्मा॒तॄरज॑गन्न॒पः ।
न तत् ते॑ अग्ने प्र॒मृषे॑ नि॒वर्त॑नं
यद् दू॒रे सन्नि॒हाभ॑वः ॥ २ ॥ १०

हे अग्ने ! (वना कायमान) वनोंकी कामना करता हुआ (त्वं) तू (यत्) जब (मातृः अप अजगन्) मातारूपी जलके पास जाता है, तब (तत् ते निवर्तनं) वह तेरा वापस जाना (न प्रमृषे) मैं सहन नहीं करता, क्योंकि (यत् दूरे सन्) तू दूर होता हुआ भी (इह अभवः) यहीं इस अरणीमें समीप ही रहता है ॥ २ ॥

अग्नि वनोंको जलाता हुआ जलस्थानके पास, नदी, तालाव वा समुद्रके पास जाता है, तब शान्त होता है, दूर होता है। यह अग्निकी दूरता हमें पसंद नहीं होती। परंतु इस तरह दूर होनेपर भी इस अरणीमें ही वह होता है, इस कारण घर्षण करनेसे क्षणमात्रमें वह प्रकट होता है। इसलिये वनोंको जलाता हुआ अग्नि शांत हुआ तो भी चिंता करनेका कोई कारण नहीं, जिस समय चाहिये अरणीसे वह पुन प्रकट हो जाता है।

अग्रणी भी शत्रुके साथ युद्ध करके शत्रु दूर होनेसे अग्रणी भी थोडी देर शान्तसा रहा, तो भी जिस समय शत्रु खडा होगा, उस समय उसका सामना हमारा अग्रणी अवश्य ही करेगा ।

१ **दूरे सन् इह अभवः**- दूर होनेपर भी पास होनेके समान रहो, बर्तो । अग्रणी दूर होनेपर भी पास है ऐसा ही सबको प्रतीत हो।

अति॑ तृ॒ष्टं व॑वक्षि॒था-
ऽथै॒व सु॒मना॑ असि ।
प्रप्रा॒न्ये यन्ति॒ पर्य॒न्य आ॑सते॒
येषां॑ स॒ख्ये असि॑ श्रि॒तः ॥ ३ ॥ ११

(येषां सख्ये श्रितः असि) जिनकी मित्रतामें तू रहता है उनकी (तृष्टं अति ववक्षिथ) इच्छाकी पूर्ति तू शीघ्र करता है, (अथ एव सुमनाः असि) क्योंकि तू उत्तम मनवाला है। इनको छोडकर (अन्ये प्र प्र यन्ति) दूसरे दूर दूर भटकते रहते हैं और (अन्ये परि आसते) दूसरे बैठे ही रहते हैं ॥ ३ ॥

अग्रणीकी मित्रता करके जो रहते है, उनकी इच्छा शीघ्र तृप्त होती है, क्योंकि अग्रणी उत्तम मनवाला होता है। जो इसके विरोधमें रहते है, उनमेंसे कई दूर दूर भटकते रहते हैं,

नहीं तो कई आलस्यमें ही बैठे रहते हैं। पर उत्तम अग्रणीके अनुयायी कृतकार्य होकर आनन्दमें रहते है।

१ तृष्टं अति ववक्षिथ- [अनुयायियोंकी] तृष्णा- इच्छा शीघ्र तृप्त करो।

२ सुमना असि- तू उत्तम मनवाला होकर रहो। अपना मन बुरे विचारोंसे दूर रखो।

ईयिवांसमति स्रिधः
शश्वतीरति सश्चतः।
अन्वीमविन्दन्निचिरासो अद्रुहो
अप्सु सिंहमिव श्रितम् ॥ ४ ॥ १२

हे अग्ने! (अद्रुहः) परस्पर द्रोह न करनेवाले (नि-चिरासः) सदा प्रेमसे साथ साथ रहनेवाले विबुध (शश्वतीः सश्चतः अति) बडी संघटित शत्रुसेनाका अतिक्रमण करके (स्रिधः अति ईयिवांसं) हिंसक शत्रुओंको दूर करनेवाले (अप्सु श्रितं सिंहं इव) जलके पास छिपकर बैठनेवाले सिंहके समान (ईं अनु अविन्दन्) इस अग्निको प्राप्त करते हैं ॥ ४ ॥

विबुधोंके लक्षण

१ अ-द्रुहः निचिरासः- आपसमें द्रोह न करनेवाले, आपसमें विद्वेष न बढानेवाले, सदा प्रेमसे रहनेवाले संगठित वीर विबुध कहलाते हैं।

२ शश्वतीः सश्चतः अति- बडी संगठित शत्रुसेनाका अतिक्रमण करनेवाले, शत्रुसेनाको परास्त करनेवाले। (सश्च-समवाये) संगठित हुए वीर।

३ स्रिधः अति ईयिवान्- शत्रुको दूर करनेवाला, शत्रुको पास रहनेके लिये अवसर न देनेवाला।

जो ऐसे होते हैं वे विबुध या देव कहलाते हैं। ये अपने योग्य अग्रणी नेताको ढूंढ निकालते हैं।

ससृवांसमिव त्मना-
ऽग्निमित्था तिरोहितम्।
ऐनं नयन् मातरिश्वा परावतो
देवेभ्यो मथितं परि ॥ ५ ॥ १३

(मातरिश्वा) वायुने (इत्था त्मना) इस तरह स्वयं ही (तिरोहितं) गुप्त होकर रहनेवाले (परि मथितं अग्निं) परन्तु मन्थनसे प्रकट हुए अग्निको (परावतः) दूर स्थानसे (देवेभ्यः आनयन्) देवोंके लिये लाया। (ससृवांसं इव) सरनेवाले बालकको जैसा पिता उठाकर वापस लाता है ॥ ५ ॥

देवेभ्यः तिरोहितं एनं अग्निं परावतः आनयन्- देवोंके लिये इस गुप्तरूपसे रहनेवाले, छिपकर रहनेवाले, इस अग्निको दूर देशसे लाते हैं। अग्रणीको ढूंढकर लाते हैं।

एकान्तमें बैठे हुए अग्रणीको विबुध ढूंढकर बाहर लाते है। चुनकर जनताके सन्मुख आगे लाते हैं। नेताको चुनकर प्रकट रूपमें लाना यह एक प्रकारका समाजका मन्थन ही है। विद्वान लोग अग्रणीको चुनकर जनताके सन्मुख लाते हैं। समाजका मन्थन करके जनताके सामने अग्रणीको लाते हैं।

अग्रणी एकान्तमें समाजसेवाका कार्य कर रहा था। वह आगे आनेकी इच्छा भी नहीं करता था। परन्तु विबुधोंने उसीको चुना और समाजके सामने रखा, इसलिये समाजका मन्थन उनको करना पडा। वह उन्होंने किया और अग्रणीको प्रकट किया।

आजकलके चुनावमें अग्रणी स्वयं प्रयत्न करता है, पर वैदिक समयके चुनावमें ज्ञानी लोग प्रयत्न करके शुभगुणयुक्त अग्रणीको समाजमेंसे ऊपर लाते हैं और उसको समाजकी वेदीपर स्थापन करते हैं।

अग्नि काष्ठोंमें छिपा रहता है, अरणीका मन्थन करके उसको ऋत्विज बाहर लाते हैं और पश्चात् वह अग्नि प्रकाशने और मार्गदर्शन करने लगता है। इसी तरह अग्रणीका प्रकाशना होता है।

तं त्वा मर्ता अगृभ्णत
देवेभ्यो हव्यवाहन।
विश्वान् यद् यज्ञाँ अभिपासि मानुष
तव क्रत्वा यविष्ठ्य ॥ ६ ॥ १४

हे (यविष्ठ्य मानुष) अति तरुण और मानवोंके हित करनेवाले अग्ने! (तव क्रत्वा) अपने कर्मसे (यत्) जिस कारण (विश्वान् यज्ञान् अभिपासि) तू सब यज्ञोंका पालन करता है, इसलिये हे (हव्यवाहन) हवनके पदार्थोंको देवताओंतक पहुंचानेवाले अग्ने! (मर्ताः) मनुष्य (तं त्वा अगृभ्णत) उस तुझको स्वीकार करते हैं ॥ ६ ॥

अग्निके और अग्रणीके गुण

१ यविष्ठय- तरुण, अतितरुण, तरुणके समान उत्साही,

२ मानुष- मानवोंका हित करनेवाला, जनताका हित करनेवाला।

३ क्रत्वा विश्वान् यज्ञान् अभिपासि— अपने प्रयत्नसे सब यज्ञोंका पालन या रक्षण करता है। यज्ञका अर्थ श्रेष्ठतम कर्म, प्रशस्ततम कर्म। ऐसे कर्मोका रक्षण करना आवश्यक है।

'यज्ञ' का अर्थ 'विबुधपूजा, संगतिकरण और दान' है। जो ज्ञानी होंगे उनका सत्कार होना चाहिये, समाजका संगठन होना चाहिये और न्यूनताको दूर करनेके लिये दान देना चाहिये। इस तरह यज्ञमें ये तीन कार्य मुख्य हैं।

समाजमें चार प्रकारकी न्यूनताएं होती हैं। १ ज्ञान न होनेसे हीनता, २ बल न होनेसे हीनता, ३ धन न होनेसे न्यूनता और ४ कर्मकौशल न होनेसे न्यूनता। यह चार प्रकारकी न्यूनताएं हैं। समाजसे ये दूर होनी चाहिये, इसलिये दान देना चाहिये और इससे ये न्यूनताएं दूर करनी चाहिये। ज्ञान बढानेके लिये, बल बढानेके लिये, धन बढानेके लिये और कर्मका कौशल्य बढानेके लिये दान देना चाहिये। सत्कार करनेयोग्य जो होंगे, उनका सत्कार करना, समाजका संगठन करना और उक्त प्रकारका चतुर्विध दान देना, यह त्रिविध यज्ञकर्म है।

'विश्वान् यज्ञान् अभिपासि' सब यज्ञोंका सर्वतः पालन करता है, उसका नाम 'मानुष' अर्थात् मानवोंका हित करनेवाला है। यह सब प्रकारके यज्ञोंका पालन करता है। 'मर्ताः तं अगृभ्णत' मरणधर्मवाले मानव उस अग्रणीको स्वीकारते हैं और अपना अभ्युदय करते हैं।

तद् भद्रं तव दंसना
पाकाय चिच्छदयति।
त्वां यदग्ने पशवः समासते
समिद्धमपि शर्वरे ॥ ७ ॥ १५

हे अग्ने! (तव तत् भद्रं दंसना) तुम्हारा वह कल्याण करनेवाला कर्म है कि जिसमें तू (पाकाय चित् छदयति) परिपक्व होनेके लिये अनुयायियोंको सन्मानित करता है। (अपि शर्वरे समिद्धं त्वां) शामके समय प्रदीप्त हुए तेरे चारों ओर (यत् पशवः समासते) अनेक पशु इकठ्ठे होकर बैठते हैं॥ ७॥

(पाकः) परिपक्व होनेकी इच्छा करनेवाला जो होता है, उसको भी अग्रणी परिपक्व होनेका ठीक मार्ग बतावे, यह उसका करना कल्याण करनेवाला है, प्रशंसनीय है। (अपि शर्वरे) शामके समय, अन्धेरेके समयमें अग्नि प्रदीप्त होता है, उस समय उसके पास अनेक पशु आकर बैठते हैं। इसी तरह अग्रणीके पास पशुके समान जो पीछडे हुए लोग होते हैं, वे बैठते हैं। उनको वह अग्रणी अभ्युदयका मार्ग बताता है और परिपक्व होनेके साधन दर्शाता है।

अग्रणीका यही कार्य है। जिस तरह अन्धेरेमें अग्नि मार्ग दर्शाता है, उस तरह अग्रणी अपने अनुयायियोंको उन्नतिका मार्ग बतावे।

आ जुहोता स्वध्वरं
शीरं पावकशोचिषम्।
आशुं दूतमजिरं प्रत्नमीड्यम्
श्रुष्टी देवं सपर्यत ॥ ८ ॥ १६

(पावक-शोचिषं) पवित्रता करनेवाला जिसका प्रकाश है, (शीरं) शान्त चित्त, प्रसन्न चित्त, (सु-अध्वरं) उत्तम रीतिसे हिंसारहित यज्ञ करनेवाले (आशुं दूतं) सत्वर कर्म करनेवाले, शीघ्र चलनेवाले दूतके समान, शीघ्र कार्य करनेवाले (अजिरं प्रत्नं) जरारहित, क्षीणतारहित, पुरातन (ईड्यं देवं) प्रशंसनीय अग्निदेवकी (श्रुष्टी सपर्यत) सत्वर पूजा करो, सत्कार करो। (आ जुहोत) हवन करो, उनके लिये अर्पण करो॥८॥

१ स्वध्वरः- (सु-अ-ध्वरः) 'ध्वरा' हिंसाको कहते हैं। जिसमें हिंसा नहीं होती वह 'अ-ध्वर' कहलाता है। उत्तम अहिंसापूर्ण शुभ कर्म करनेवाला। (सु-अध्व-र) उत्तम मार्ग दर्शानेवाला, उत्तम मार्गसे ले जानेवाला।

२ पावक-शोचिः- अग्निके समान जिसका तेज है, तेजस्वी, (पाव-क-शोचिः) पवित्रताका नाम 'पाव' है, पावन जो करता है वह 'पावक' है। इसके समान प्रकाशवाला, पवित्रता फैलानेवाला जिसका प्रकाश है। जिसके तेजसे पवित्रता, शुचिता चारों ओर फैलती है।

३ आशुः दूतः- दूतके समान सत्वर कार्य करनेवाला, शीघ्रतासे उत्तम कार्य करनेवाला।

४ प्रत्नः- पुरातन, पुरातन कालसे रहनेवाला।

५ **अजिरः** (अ-जिरः, अजीर्णः)- जरारहित, पुरातन होनेपर भी जो जवान जैसा फूर्तिला है, वृद्ध होनेपर भी युवा जैसा सामर्थ्यवान् है ।

६ **देवः**- क्रीडा, विजिगीषा, व्यवहार, द्युति, स्तुति, मोद, मद (प्रसन्नता), स्वप्न, कान्ति (कमनीयता), गति (हलचल) करनेवाला, प्रगतिशील ।

७ **शीरः**- शान्त, प्रसन्न, अपने निजानन्दमें मग्न, सुखसे निद्रा जिसको आती है ।

८ **ईड्यः**- प्रशंसनीय, वर्णनीय, स्तुतिके योग्य ।

ये अग्निके गुण हैं । ये ही अग्रणीके गुण हैं । अग्रणी इन गुणोंसे युक्त हो । ' प्रत्न ' पद अग्रणीपर किस तरह लग सकता है ऐसी शंका यहां कोई कर सकते हैं । इस विषयमें कहना इतना ही है कि ' प्राचीन संस्कृतिका आदर करनेवाला ' इस तरहका भाव यहा अग्रणीपरक ' प्रत्न ' पदका लिया जा सकता है ।

त्रीणि शता त्री सहस्राण्यग्निं
त्रिंशच्च देवा नव चासपर्यन् ।
औक्षन् घृतैरस्तृणन् बर्हिरस्मा
आदिद्धोतारं न्यसादयन्त ॥ ९ ॥ १७

तीन हजार तीन सौ तीस और नौ देव (अग्निं सपर्यन्) अग्निकी पूजा करते हैं । (अस्मै बर्हिः अस्तृणन्) इसके लिये आसन फैलाते हैं, (घृतैः औक्षन्) घीसे सींचते हैं, घीकी आहुतियां देते हैं । (आत् इत्) और पश्चात् (होतारं नि असादयन्त) विबुधोंको बुलाकर अपने साथ लानेवाले अग्नि-देवको उस आसनपर बिठलाते हैं ॥ ९ ॥

यहां ३००० | ३०० | ३० और ९ देव हैं ऐसा कहा है। यह ३३ देवोंका ही महिमाका विस्तार है ।

१ एक देव,
३ तीन देव, इनमेंसे प्रत्येकके ३ भेद होनेसे ९ होते हैं,
३० तीस देव,
३०० तीनसौ देव,
३००० तीन हजार देव ।

इस तरह यह संख्या ३३,००,००,००० तैंतीस करोडतक पहुंच सकती है । तैंतीस करोड देवता हैं ऐसा जो कहा जाता है वे सब देवताएं इसी तरह मानी जाती है, मुख्य देव एक है, उससे तीन देव बने, उस प्रत्येकके दस दस होनेसे ३० हुए, इसमेंसे प्रत्येकके दस दस बन जानेसे ३०० और ३००० या अधिक भी बनते हैं ।

यह एक ही देवताकी महिमा है । एक अग्नि है । उस अग्निका द्युस्थानमें ' **सूर्य** ', अन्तरिक्ष स्थानमें ' **विद्युत** ' और पृथिवी स्थानमें ' **अग्नि** ' ये तीन देव बने । पर इनमें एक ही अग्नित्व है । इसी तरह इसीके ३० या ३०० बनते हैं । अनेक रूप एक हीके होते हैं ।

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥ (कठ० उ०)

' अग्नि जिस तरह सब जगत्में प्रविष्ट होकर प्रत्येक वस्तुके आकारका बनता है, उस तरह एक ही सर्वभूतान्तरात्मा है वह प्रत्येक रूपमें तदाकार बना है और बाहर भी है। ' इस रीतिसे एकके अनेक रूप होते हैं और एक हीके १ । ३ । ३० । ३०० । ३००० बन जाते है । ये सब देव मुख्य अग्निकी पूजा करते हैं । उसको घीकी आहुतियां देते हैं, हवनीय पदार्थोंकी आहुतियां अर्पण करते हैं और उसकी सेवा करते हैं । मुख्य अग्निके लिये आसन फैलाते हैं, उसको उसपर बिठलाते हैं । इस तरह सेवा करते हैं ।

अग्रणी नेताकी भी इसी तरह अनुयायी सेवा करते हैं। यहां अनुयायियोंके गट या गण ३ । ३० । ३०० । ३००० आदि हैं। दसपर एक गटनायक, तीस स्वयंसेवकोंपर एक गणमण्डलाध्यक्ष और तीनसौपर एक महामण्डलाध्यक्ष तथा तीन हजारोंका प्रमुख संचालक इस तरह अनुयायियोंमें शासनव्यवस्था होती है।

विश्वमें भी ऐसी ही व्यवस्था है । शासकोंको ऐसी ही व्यवस्था करनी चाहिये । अनुशासनशील समाज बन जाय तो वह सुखसे जीवित रह सकता है ।

विशेष व्यवस्था विचारी पाठक विचार करके जान सकते हैं। अग्निके गुण इस तरह अग्रणीके लिये लगाकर अग्रणीके कर्तव्य जानना योग्य है । अग्रणी ही अग्नि है । देवताके गुण व्यक्तिमें, समाज या राष्ट्रमें, तथा राष्ट्रके शासकमें देखकर उनके कर्तव्य जानने चाहिये । अर्थात् वेदके मन्त्र व्यक्तिमें, समाजमें या राष्ट्रमें तथा राष्ट्रके शासकमें ढालने चाहिये । ये ढालनेके समय जहां ढालना है वहांकी स्थितिके अनुसार उसकी व्याप्तिमें न्यूनाधिक करना आवश्यक है । यह बात सहजहीसे पाठकोंके ध्यानमें आसकती है ।

३ अग्निः । (ऋ० ३।२९)

(गाथिनो विश्वामित्रः । अग्निः । त्रिष्टुप्; १, ४, १०, १२ अनुष्टुप्; ६, ११, १४, १५ जगती ।)

अस्तीदमधिमन्थनमस्ति प्रजननं कृतम् ।
एतां विश्पत्नीमा भराग्निं मन्थाम
पूर्वथा ॥ १ ॥ १८

(इदं अधिमन्थनं अस्ति) यह अधिमन्थन है, (प्रजननं कृतं अस्ति) यह प्रजनन तैयार किया है। (एता विश्पत्नीं आ भर) इस प्रजाका पालन करनेवाली-अरणी-को यहां ला। (पूर्वथा अग्निं मन्थाम) पूर्वके समान हम अग्निका अब मन्थन करेंगे ॥ १ ॥

अब मन्थन करके अग्निको प्रकट करना है, उसकी यह तैयारी है। यह अधिमन्थन काष्ठ है, यह प्रजननकी तैयारी है। यहां इस प्रजाका पालन करनेवाली अरणीको रखो और अब हम मन्थन करेंगे।

'**प्रजनन**' का अर्थ 'पुत्रको उत्पन्न करना' है। पुत्रको जो उत्पन्न करती है वह '**विश्-पत्नी**' अर्थात् 'प्रजाका पालन करनेवाली' स्त्री है। प्रजाका पालन स्त्री करती है, संतान उत्पन्न करना और उसका पालन करना यह स्त्रीका कार्य है।

अरण्योर्निहितो जातवेदा
गर्भ इव सुधितो गर्भिणीषु ।
दिवेदिव ईड्यो जागृवद्भिः
हविष्मद्भिर्मनुष्येभिरग्निः ॥ २ ॥ १९

(गर्भिणीषु) गर्भवती स्त्रियोंमें (गर्भः सुधितः इव) जैसा गर्भ सुव्यवस्थित रहता है, वैसा ही (जातवेदाः) जातवेद अग्नि (अरण्योः निहितः) दो अरणियोंमें रहा है। यह (अग्निः) अग्नि (दिवे दिवे) प्रतिदिन (जागृवद्भिः हविष्मद्भिः मनुष्येभिः) जाग्रत रहनेवाले, हवि अपने पास रखनेवाले मनुष्योंके द्वारा (ईड्यः) स्तुति करनेयोग्य है ॥ २ ॥

यहां अग्निके लिये गर्भकी उपमा दी है। यही उपमा गर्भके लिये अग्निकी है ऐसा भी माना जा सकता है। दो अरणियोंमें अग्नि रहता है, इसी तरह स्त्री तथा पुरुष इस जोडीमें पुत्र रहता है। अधरारणी स्त्री और उत्तरारणी पुरुष है। (जागृवद्भिः) जाग्रत रहनेवाले, (हविष्मद्भिः) अन्न जिनके पास है ऐसे और (मनुष्येभिः) मननशील जो हैं अथवा मानवता जिनमें है ऐसे मानवोंने इस गर्भकी सेवा (दिवे दिवे) प्रतिदिन करनी चाहिये।

'**ईड्यः**' पद यहां बडे महत्त्वका है। 'ईड्, ईर्, ईल्, ईळ्' इन धातुओंसे '**ईडा, ईरा, ईला और ईळा**' ये पद स्तुतिवाचक, सेवावाचक और अन्नवाचक बनते हैं। स्तुति, सेवा और योग्य अन्न इनका परस्पर सम्बन्ध है। गर्भकी सेवा योग्य अन्न देकर प्रतिदिन जाग्रत रहकर अन्नवान तथा मानवता युक्त पुरुषोंने करनी चाहिये। तब उस गर्भसे श्रेष्ठ पुरुष बन सकता है। इसी तरह अरणीयोंसे अग्नि उत्पन्न होनेपर जाग्रत रहकर हवन करनेवाले मानवोंके द्वारा संसेवित होकर ही अग्नि बडे बडे यज्ञ और सत्र करनेके लिये योग्य होता है।

यहां गर्भ और अग्निका साम्य देखनेयोग्य है। इसी तरह दोनोंकी तुलना करके अपने कर्तव्यका बोध प्राप्त करना योग्य है।

उत्तानायामव भरा चिकित्वान्
त्सद्यः प्रवीता वृषणं जजान ।
अरुषस्तूपो रुशदस्य पाज
इळायास्पुत्रो वयुनेऽजनिष्ट ॥ ३ ॥ २०

(चिकित्वान) ज्ञानी बनकर तू (उत्तानायां अव भर) ऊपर मुख करके रहनेवाली अधरारणीमें उत्तरारणीको भर दे। पश्चात् (सद्यः) तत्काल ही (प्रवीता) गर्भवती होकर वह अरणी (वृषणं जजान) बलवान पुत्रको- अग्निको- उत्पन्न करेगी। (अस्य रुशत् पाजः) इसका तेजस्वी प्रकाश होता है। यह (अरुष-स्तूपः) क्रोधरहित तेजस्वी (इळायाः पुत्रः) मातृभूमिका पुत्र (वयुने अजनिष्ट) इस अरणीयोंके सम्बन्धसे उत्पन्न होता है।

अधरारणी और उत्तरारणीके सम्बन्धसे बलशाली अग्नि उत्पन्न होता है। इसी तरह मातापिताके सम्बन्धसे माता गर्भवती होकर उस मातासे बलवान पुत्र उत्पन्न होता है। वह (इळायाः पुत्रः) मातृभूमिका तेज बढानेवाला तथा (पु-त्रः = पुनाति त्रायते च) मातृभूमिको पवित्र करता है

और उसका संरक्षण करता है। इसका (रक्षत् पाजः) विशेष तेज होता है। वह पुत्र (वयुने अजनिष्ट) कर्म करनेके लिये जन्मता है। अग्नि जैसा कर्म- यज्ञ- करनेके लिये उत्पन्न होता है। वैसा ही पुत्र भी ज्ञानसे तेजस्वी बनकर विविध कर्म- श्रेष्ठ कर्म करनेके लिये ही जन्मता है। माताका रक्षण करना और अपने जीवनसे मातृभूमिकी पवित्रता करना उसका कर्म- जीवनका कार्य- होता है। इस तरह अग्निके गुणोंकी तुलना कुलीन पुत्रके गुणोंके साथ करके योग्य बोध लेना योग्य है।

इळायास्त्वा पदे वयं नाभा पृथिव्या अधि।
जातवेदो नि धीमह्यग्ने हव्याय वोळ्हवे ॥४॥ २१

हे (जातवेदः अग्ने) ज्ञानी अग्ने! (वयं) हम सब मिलकर (त्वा) तुझको (इळायाः पदे) अन्नके स्थानमें (पृथिव्याः नाभा अधि) पृथिवीके मध्यमें- वेदीमें (हव्याय वोळ्हवे) हव्य पदार्थोंको ले जानेके लिये (नि धीमहि) स्थापन करते हैं ॥ ४ ॥

जातवेदाः- (जाता वेदाः यस्मात्) जिससे वेद निर्माण हुए ऐसा ज्ञानी अग्रणी। (जातं वेत्ति) जो बना है उसको यथावत् जानता है ऐसा विज्ञानवान् अग्रणी। ज्ञान और विज्ञानसम्पन्न नेता। '**इळायाः पदे**'-अन्नके स्थानपर, जहां भरपूर अन्न है ऐसे स्थानपर, '**पृथिव्याः नाभौ**'- पृथ्वीके मुख्य केन्द्रमें, '**हव्याय वोळ्हवे**'- अन्नको पहुंचानेके लिये हम अग्निकी स्थापना करते हैं।

इस अग्निसे वेद बने। ऋग्वेदका प्रारम्भ ही '**अग्नि**' पदसे हुआ है। अग्निसे यज्ञ होते है और यज्ञके लिये वेद बने हैं। '**वेदा हि यज्ञार्थमभिसंप्रवृत्ताः**' वेद यज्ञके लिये बने हैं। इस तरह अग्नि जातवेदा है। जो ग्रंथ निर्माण करके ज्ञानका प्रचार करता है वह भी 'जात-वेदाः' है। बने हुए पदार्थोंका ज्ञान जिसको है वह भी 'जातवेदाः' है। यह अर्थ इसकी विज्ञानसम्पन्नताका भाव बता रहा है।

पुत्र बननेपर वह 'जात-वेदा' बने अर्थात् ज्ञान और विज्ञानसम्पन्न बने। इतना विद्वान होनेपर उसकी भूमिके मातृभूमिके मध्य केन्द्रमें स्थापना हो और वह वहां प्रशस्ततम कर्म करता रहे। जहां अन्न न हो वहां वह पहुंचावे और सबका पोषण करे। अग्रणीका यह कर्तव्य बताया है।

मन्थता नरः कविमद्वयन्तं
प्रचेतसममृतं सुप्रतीकम्।
यज्ञस्य केतुं प्रथमं पुरस्ताद्
अग्निं नरो जनयता सुशेवम् ॥ ५ ॥ २२

हे (नरः नरः) नेताओ! (कविं) ज्ञानी, दूरदर्शी, (अद्वयन्तं) अद्वैत भाव धारण करनेवाले (प्रचेतसं) विशेष ज्ञानी, (अ-मृतं) अमर, सदा उत्साही, (सु-प्रतीकं) उत्तम सुन्दर (यज्ञस्य केतुं) यज्ञके ज्ञानका ध्वज जैसे, यज्ञको चलानेवाले (प्रथमं) प्रथम स्थानमें रहने योग्य, (सुशेवं) उत्तम सेवा करने योग्य ऐसे (अग्निं) अग्निको, अग्रणीको (मन्थत, जनयत) मन्थन करके निर्माण करो ॥ ५ ॥

पुत्र कैसा हो यह यहां अग्निके वर्णनसे बताया है। वह (कविः) ज्ञानी, दूरदर्शी, क्रान्तदर्शी हो, (अ-द्वयावन्) पृथक्ताका भाव, दूर रखनेका भाव, द्वन्द्वभाव जिसमें न हो, सबको समानभावसे देखनेवाला हो। झगडे बढानेवाला न हो। (प्रचेताः) विशेष बुद्धिवान, विशेष विचार करनेवाला हो, (अ-मृतः) मरियल न हो, शरीरसे नीरोग हो, (सु-प्रतीकः) उत्तम सुन्दर हो, आदर्श मानने योग्य हो, (प्रथमः) प्रथम स्थानमें विराजने योग्य हो, (सुशेवं) उत्तम सेवा करने योग्य हो (यज्ञस्य केतुं) यज्ञका मार्ग बतानेवाला हो, (अग्निः) अग्नि जैसा तेजस्वी हो। पुत्रमें ये गुण हों ऐसा प्रयत्न मातापिताको करना चाहिये।

यहां अग्निके वर्णनसे पुत्र किन गुणोंसे युक्त हो यह बताया है। पुत्रमें ये गुण हों ऐसा प्रयत्न मातापिता तथा गुरु आदिकोंको करना आवश्यक है। इनमेंसे ही आगे चलकर राष्ट्रका नेता उत्पन्न होता है।

यदी मन्थन्ति बाहुभिर्वि रोचते-
ऽश्वो न वाज्यरुषो वनेष्वा।
चित्रो न यामन्नश्विनोरनिवृतः
परि वृणक्त्यश्मनस्तृणा दहन् ॥ ६ ॥ २३

(बाहुभिः यदि मन्थन्ति) हाथोंसे जब मन्थन करते हैं तब (वाजी अश्वः न) बलवान घोडेके समान वह (वनेषु) काष्ठों पर (आ विरोचते) विशेष शोभता है। (अश्विनः चित्रः

यामन् न) अश्विदेवोंके चित्रविचित्र रथके समान वह बढता जाता है। यह (अनिवृतः) किसीसे पराजित न होता हुआ (अश्मनः तृणा दहन) पत्थर जैसे काष्ठोंको और घासको खाता हुआ वह अग्नि (परि वृणक्ति) आगे बढता है ॥ ६ ॥

अग्नि घोडेके समान बलवान और वेगवान् है, रथके समान गतिमान है, किसी शत्रुसे वह पराजित नहीं होता। वह पीछे नहीं हटता, परंतु आगे बढता जाता है। पुत्रके वा अग्रणीके अन्दर भी ये ही गुण होने चाहिये, वह वेगवान्, प्रगतिमान, अपराजित और आगे बढनेवाला हो।

जातो अग्नी रोचते चेकितानो
वाजी विप्रः कविशस्तः सुदानुः।
यं देवास ईड्यं विश्वविदं
हव्यवाहमदधुरध्वरेषु ॥ ७ ॥ २४

(जातः अग्निः) उत्पन्न होनेपर अग्नि (चेकितानः) ज्ञानी (वाजी) बलवान (विप्रः) ज्ञानी (कवि-शस्तः) ज्ञानियोंके द्वारा प्रशंसित, (सु-दानुः) उत्तम दाता होनेके कारण (रोचते) शोभता है। (यं विश्वविदं हव्यवाहं ईड्यं) जिस सर्वज्ञ हव्य-वाहक अतएव प्रशसनीय ऐसे अग्निको (अ-ध्वरेषु अदधुः) हिंसारहित कर्मोंमें धारण करते हैं ॥ ७ ॥

इस मन्त्रमें भी अग्निके वर्णनमें ज्ञानीके गुण बताये हैं— वह (चेकितानः) ज्ञानी, (विप्रः) विशेष प्राज्ञ, विशेष विद्वान् (कवि-शस्तः) कवियोंमें प्रशंसित, कवियों द्वारा प्रशंसित, (सु-दानुः) उत्तम दाता (विश्व-विद्) सर्व ज्ञान अपने पास रखनेवाला, विश्वको यथावत् जाननेवाला, (हव्यवाहं) अन्नको जहां पहुंचाना चाहिये वहां पहुंचानेवाला अतएव (ईड्यः) प्रशंसनीय है। ये गुण जैसे अग्निमें वैसे ही विद्वान नेताके अन्दर होने चाहिये।

सीद होतः स्व उ लोके चिकित्वान्
त्सादया यज्ञं सुकृतस्य योनौ।
देवावीर्देवान् हविषा यजा-
स्यग्ने बृहद् यजमाने वयो धाः ॥ ८ ॥ २५

हे (होतः) हवन करनेवाले अग्ने ! (चिकित्वान्) ज्ञानी बनकर (स्वे लोके सीद) अपने स्थानमें बैठ। (सुकृतस्य योनौ यज्ञं सादय) सुकृत करनेवालोंके स्थानमें यज्ञकर्ताको स्थापन कर। (देवा-अवीः) देवोंका रक्षक होकर (हविषा देवान् यज) अन्नसे देवोंके लिये यज्ञ कर। हे अग्ने! (यजमाने) यजमानके पास (बृहत् वयः धाः) विशेष प्रमाणमें अन्नकी स्थापना कर ॥ ८ ॥

१ **चिकित्वान् स्वे लोके सीद—** ज्ञानी बनकर अपने स्थानमें रह। स्वयं ज्ञानी बनकर अपने लोगोंमें रहकर उनका उद्धार कर। जैसा अग्नि वेदीरूप स्वस्थानमें रहकर याजकोंका उद्धार करता है।

२ **सुकृतस्य योनौ यज्ञं सादय—** उत्तम कर्म करने-वालोंके स्थानमें यज्ञको पूर्ण कर। उत्तम कर्म करनेवाले जहां होंगे वहीं यज्ञ ठीक तरह होना संभव है। ' **यज्ञ** ' का अर्थ मंत्र १४ पृष्ठ ९ में देखो।

३ **देवावीः देवान् यज—** (देव-अवीः) देवोंका सज्ज-नोंका रक्षक होकर देवोंका सत्कार कर। सज्जनोंका रक्षण करके उनका सत्कार करना उचित है। ' **परित्राणाय साधूनां** ' (गीता) साधुओंका परित्राण करना यह एक मुख्य कर्तव्य ही है। किसीका सत्कार करना हो तो उसका रक्षण पहिले होना चाहिये। रक्षणके पश्चात् उनका सत्कार हो सकता है।

४ **यजमाने बृहत् वयः धाः—** यज्ञ करनेवालेके पास बहुत अन्न रखो। जिससे वह अधिक यज्ञ करेगा और जनताका अधिक लाभ होगा। अन्न, धनधान्य आदि पदार्थ जिसका यज्ञमय जीवन है उसको अधिक मिलने चाहियें। कृपणके पास अधिक धन न रहे, प्रत्युत उदार चरितके पास अधिक धन हो। उदार पुरुष यज्ञीय जीवन जीनेवाला मनुष्य ही अपने धनसे अनेक यज्ञ करेगा जिससे सब जनताका सुख बढेगा, सबका कल्याण होगा। सज्जनोंका सत्कार करना, संगठन करना और जो न्यूनताका दोष हो उसको दूर करना यह त्रिविध यज्ञ है। यह करना मनुष्यके जीवनका ध्येय होना चाहिये।

कृणोत धूमं वृषणं सखायो-
ऽस्रेधन्त इतन वाजमच्छ।
अयमग्निः पृतनाषाट् सुवीरो
येन देवासो असहन्त दस्यून् ॥ ९ ॥ २६

हे (सखायः) मित्रो ! तुम (वृषणं धूमं कृणोत) बल बढानेवाला अग्नि सिद्ध करो। (अस्रेधन्तः वाजं अच्छ इतन)

क्षीण न होते हुए बलको अच्छी तरह प्राप्त करो। (अयं अग्निः) यह अग्नि (सुवीरः) उत्तम वीर है और (पृतनाषाट्) शत्रुसेनापर विजय प्राप्त करनेवाला है। (येन) जिसकी सहायतासे (देवासः दस्यून् असहन्त) देवोंने दस्यूपर विजय पाया था। ॥ ९ ॥

यहां ' धूम ' पद है। यह वस्तुतः धूंवेका वाचक है। परंतु यहां ' यत्र धूमः तत्र वह्निः ' इस न्यायसे धूम पदसे अग्नि लिया जाता है। अग्नि उत्पन्न करनेका ही अर्थ यज्ञ करना है। यज्ञ करनेसे (वाजं इतन) बल प्राप्त करो। आगे अग्निके गुण बताये हैं जो अग्रणीके अन्दर देखने योग्य हैं—

१ **सु-वीरः**— उत्तम शूरवीर,

२ **पृतना-षाट्**— शत्रुकी सेनापर विजय प्राप्त करनेवाला, शत्रुको परास्त करनेवाला, युद्धमें विजयी।

३ **दस्यून् असहन्त**— शत्रुओंको परास्त करना,

४ **देवासः**— विबुध, ज्ञानी, दिव्य गुणयुक्त पुरुष, उत्तम व्यवहार करनेवाले।

अग्निके ये गुण नेतामें, अग्रणीमें, लोकनायकमें देखने चाहिये।

अयं ते योनिर्ऋत्वियो
यतो जातो अरोचथाः।
तं जानन्नग्न आ सीदाथा
नो वर्धया गिरः॥ १० ॥ २७

हे अग्ने! (ते अयं योनिः) तेरा यह उत्पत्तिस्थान (ऋत्वियः) ऋतुओंमें उत्पन्न हुआ है। (यतः जातः अरोचथाः) जहांसे उत्पन्न होकर तू प्रदीप्त हो रहा है। वह (जानन्) जानता हुआ तू (तं आसीद) उस अरणीमें बैठ। (अथ) और (नः गिरः वर्धय) हमारा उत्साह बढानेवाली वाणी वृद्धिंगत कर ॥ १० ॥

अरणीसे अग्नि उत्पन्न होता है और प्रदीप्त होकर वेदीमें जलने लगता है, जिसमें यज्ञ किया जाता है। यह अग्नि उत्साह बढानेवाली स्तुतिरूपी वाणीका संवर्धन करता है। नेता भी अग्निके समान ही जिस कुलमें अथवा राष्ट्रमें उत्पन्न हुआ है उसका स्मरण करे, अपने अन्दरके गुण बढावे और विशेष प्रशंसा प्राप्त करने योग्य कार्य करे।

तनूनपादुच्यते गर्भ आसुरो
नराशंसो भवति यद् विजायते।
मातरिश्वा यदमिमीत मातरि
वातस्य सर्गो अभवत् सरीमणि ॥ ११ ॥ २८

जब यह अग्नि (गर्भः) गर्भ रूपमें रहता है तब उसको (तनू-न-पात्) शरीरोंको न गिरानेवाला तथा (आसुरः) असुरोंका नाश करनेवाला कहा जाता है (यत् विजायते) जब यह उत्पन्न होता है तब यह (नर-आशंसः भवति) मानवों द्वारा प्रशंसा करने योग्य होता है। (यत्) जब यह (मातरि अमिमीत) आकाशमें अपना तेज फैलाता है तब इसको मातरिश्वा कहते हैं और जब (सरीमणि) गति करने लगता है तब (वातस्य सर्गः अभवत्) वायुकी उत्पत्ति होती है ॥ ११ ॥

यह अग्नि ' **तनू-न-पात्** ' है। यह शरीरोंको गिराता नहीं। जबतक शरीरमें उष्णता रहती है तबतक शरीर जीवित रहता है। शरीर ठंडा पड जानेसे मृत्यु होती है। इसलिये यह अग्नि शरीरको गिराता नहीं, जीवित रखता है। यह अग्नि जब प्रज्वलित होता है उस समय उसकी प्रशंसा होती है, लोग उसकी प्रशंसा करते हैं। इस कारण वह ' **नर-आशंसः** ' मनुष्योंके द्वारा प्रशंसा करनेयोग्य कहा जाता है। यज्ञमें जो अग्नि होता है उसकी प्रशंसा सभी करते हैं। पश्चात वह अधिक जलने लगता है और इसकी ज्वालाएं आकाशमें फैलती हैं तब इसको ' **मातरि-श्वा** ' कहा जाता है। तथा जब यह चलने लगता है, लकडियोंमें और वनोंमें जलाने लगता है तब इसको वायुके वेगकी सहायता मिलने लगती है और यह अधिक ही भडकने लगता है।

अग्रणी भी प्रथम अवस्थामें ' **तनू-न-पात्** ' अपने शरीरको गिरानेसे बचाता है, गिरावटके विचार और आचार यह करता नहीं। जब यह बढता है, इसकी योग्यता अधिक होती है तब यह ' **नर-आशंसः** ' मनुष्यों द्वारा प्रशंसित होता है, सब लोग इसकी प्रशंसा करने लगते हैं। जब यह अपनी मातृभूमिमें अपना तेज फैलाता है, तब वह ' **मातरि-श्वा** ' माताके हित करनेके लिये ही यह जीवित रहता है। इसका जीवनोद्देश्य मातृभूमिकी सेवा करना ही एकमात्र रहता है। जब यह (**सरीमणि**) हलचल करने लगता है तब इसको (वातस्य सर्गः) वायुके वेगकी सहायता मिलती है।

वायुका नाम है मरुत । ये वीर स्वयंसेवक हैं । ये (मर्-उत्) मरनेतक उठकर लडते हैं । इनकी सहायता इसको मिलती है । देखो मन्त्र—

सुनिर्मथा निर्मथितः
सुनिधा निहितः कविः ।
अग्ने स्वध्वरा कृणु
देवान् देवयते यज ॥ १२ ॥ २९

हे अग्ने ! तू (कवि) दूरदर्शी (सु-निर्मथा) उत्तम रीतिके मन्थनसे (सु-निर्मथित) मन्थित होकर (सु-नि-धा निहित) उत्तम रीतिसे स्थापन किया गया है। तू हमारे कर्मों को (सु-अ-ध्वरा कृणु) उत्तम रीतिसे हिंसारहित कर। (देव-यजते देवान् यज) देवोंका यजन करनेकी इच्छा करनेवालेके लिये तू देवोंका यजन कर ॥ १२ ॥

अग्नि उत्तम रीतिके मन्थनसे उत्पन्न करके वेदीमें स्थापन किया है। वह दूरदर्शी है। वह हमारे कर्मोंको अहिंसामय करे, हमारे कर्मोंमें हिंसा न हो ऐसा करे और देव भक्तोंके लिये देवोंका यजन करे ।

अग्रणी उत्तम रीतिसे समाजका मन्थन करके, उत्तम ज्ञानी करके निर्धारित किया और उसको योग्य उच्च स्थानपर स्थापित किया। वह क्रान्तदर्शी है, दूरदर्शी है, वह सब कर्मोंको हिंसारहित रीतिसे सिद्ध करे और विबुधोंका सत्कार करनेके लिये विबुधोंका ही आदर सत्कार करे ।

अग्रणी (कवि) दूरदर्शी हो, उच्चस्थानमें स्थापित हुआ हो, (सु-अध्वरा) हिंसारहित कर्म करता कराता रहे और सज्जनोंका सत्कार करे ।

अजीजनन्नमृतं मर्त्यासो-
ऽस्रेमाणं तरणिं वीळुजम्भम् ।
दश स्वसारो अग्रुवः समीचीः
पुमांसं जातमभि सं रभन्ते ॥ १३ ॥ ३०

(मर्त्यासः) मानवोंने (अमृत अ-स्रेमाणं) अमर क्षयरहित (तरणिं वीळु-जम्भं) तारक और बलवान दन्तवाले अग्निको (अजीजनत्) उत्पन्न किया। (अग्रुवः समीचीः दश स्वसार) अग्रभागमें कार्य करनेके लिये जानेवाली, तथा मिलकर कार्य करनेवाली दस बहिनें (जातं पुमांसं) जन्मे हुए पुरुष पुत्रको देखकर (अभि सरभन्ते) आनन्दसे शब्द करती हैं ॥१३॥

मानवोंने अमर, अक्षय, सरक्षक और सुदृढ दाँतवाले अग्निको उत्पन्न किया । आगे जानेवाली और मिलकर एकमतसे कार्य करनेवाली दस बहिनें, दस अंगुलिया पुरुष पुत्र उत्पन्न हुआ यह देखकर आनन्दका शब्द करती है। तालियां आनंदसे बजाती है। अंगुलिया ताली बजाकर शब्द करती है ।

अमर, क्षीण न होनेवाल, अनुयायियोंका सरक्षण करनेवाले और सुदृढ मुखवाले अग्रणीको मानवोंने नियत किया और उच्च स्थानपर स्थापित किया, यह देखकर कार्य करनेके लिये आगे बढनेवाली तथा मिलकर कार्य करनेमें तत्पर दस अंगुलिया रूपी बहिनें तालियां बजाकर उसका अभिनदन करती हैं ।

अग्रणी (अ-मर) मरियल न हो, (अ-स्रेमाणः) क्षीण, दुर्बल, निर्बल न हो तथा (तरणिः) अनुयायियोंका तारक हो और (वीळु-जम्भ) बलवान जबडावाला हो । कार्य करनेके लिये आगे बढनेवाली और मिलकर कार्य करनेकी इच्छुक दस बहिने इस पुरुषका स्वागत करें । यहां बहिनोंके गुण (अग्रुव.) आगे होनेवाली और (समीचीः) मिलकर कार्य करनेवाली ये कहे हैं ।

प्र सप्तहोता सनकादरोचत
मातुरुपस्थे यदशोचदूधनि ।
न नि मिषति सुरणो दिवेदिवे
यदसुरस्य जठरादजायत ॥ १४ ॥ ३१

(यत् मातु उपस्थे) जैसा माताकी गोदमें (ऊधनि अशोचत्) तथा- छातीके उच्चस्थानमें- बालक शोभता है । वैसा (सनकात् सप्त होता) सदासे सात हवन करनेवाले जिसके साथ रहते हैं वह अग्नि (प्र अरोचत) प्रदीप्त होता है, शोभता है । (यत असु-रस्य जठरात्) जिस कारण यह बलवानके उदरसे (अजायत) उत्पन्न हुआ है । उस कारण (सुरणः) उत्तम शब्द करनेवाला अथवा उत्तम युद्ध करनेवाला वह अग्नि (दिवे दिवे न नि मिषति) प्रतिदिन विश्राम भी नहीं करता ॥ १४ ॥

जैसा माताकी गोदमें बालक शोभता है, वैसा, अग्नि वेदीमें प्रदीप्त होकर शोभता है, इसकी सेवा करनेके लिये सात होतागण

स्वाध्यायमण्डलके प्रकाशन

महाभारत (सचित्र)

	मूल्य	डा. व्य.
१ आदिपर्व	७)	२)
२ सभापर्व	३॥)	॥।)
३ शांतिपर्व (पूर्वार्ध)	१०)	१।)
महाभारतकी समालोचना (भाग १-२) प्रत्येक भागका	॥।)	।)

रामायण कालीन आर्यसंस्कृति निबंधमाला

(भाग १)	१॥)	॥

वेद-परिचय

(तीन भागोंमें)

प्रथम भाग	१॥)	।)
द्वितीय भाग	१॥)	।)
तृतीय भाग	२)	।-)

वेद-प्रवेश

१ मरुद्देवताका मन्त्र-संग्रह	५)	॥।)
२ अश्विनौ देवताका मन्त्र-संग्रह	५)	१)
३ ऋग्वेदके अग्नि-सूक्त	२)	॥)
४ मरुद्देवता मन्त्र सामन्वय चरणसूची	२)	॥)

योग-साधन ग्रंथमाला

१ ब्रह्मचर्य	१॥)	।)
२ योगके आसन	२॥)	।-)
३ आसनोंका चित्रपट	।)	-)
४ योगसाधनकी तयारी	१)	=)
५ सूर्य नमस्कार	१)	≡)
६ सूर्य नमस्कारोंका चित्रपट	।)	-)
७ सूर्य भेदन व्यायाम	॥)	=)

आगम निबन्ध-माला

१ वैदिक स्वराज्यकी महिमा	॥)	=)
२ वैदिक सर्प विद्या	॥=)	=)
३ वेदमें चर्खा	।=)	=)
४ मानवी आयुष्य	॥)	=)
५ इन्द्रशक्तिका विकास	॥।)	=)
६ वेदमें कृषि विद्या	।)	-)

७ छूत और अछूत (भाग २ रा)	१)	=)
(भाग १ समाप्त है।)		
८ शतपथ बोधामृत	=)	-)

बालकोंकी धर्मशिक्षा

१ प्रथम भाग	≡)	-)
२ द्वितीय भाग	।-)	-)
३ वैदिक पाठमाला	-)	-)

वेदका स्वयं-शिक्षक

(भाग १ और २) प्रत्येक भागका मूल्य	१॥)	।-)

संस्कृत-पाठ-माला

(२४ भाग)

(संस्कृत भाषाका अध्ययन करनेका सुगम उपाय)

२४ भागोंका मूल्य	१२)	१।)
प्रत्येक भागका मूल्य	॥)	=)
१ सुबोध संस्कृत व्याकरण भाग १	॥)	≠)
२ सुबोध संस्कृत व्याकरण भाग २ छप रहा है।		
साहित्य सुधा (पं मेधाव्रतजी) भाग १	१।)	।)

अन्य पुस्तकें

१ विजया दशमी (दशहरा)	॥)	-)
२ आर्योंका भगवाध्वज	।)	-)
३ हिन्दी मुसलमानोंके कारनामोंका चिट्ठा	।=)	-)
४ इस्लामके आक्रमणकी जागृतका पृष्ठभूमि	१।)	।-)
५ श्री छत्रपति शिवाजी महाराजका जयसिंहको पत्र	≡)	-)
६ शेषशायी नारायण	=)	-)
७ त्रिपताका और उसका दर्शन	२)	।-)
८ विष्णु सहस्रनाम	१॥)	।-)
९ मंगलमूर्ति गणेश	१॥)	≡)
१० संध्या उपासना	≠)	-)
११ ईश्वरका साक्षात्कार (प्रथम भाग)	३)	॥)
१२ गो-ज्ञान-कोश (द्वितीय भाग)	६)	१॥)

संस्कृत पुस्तक

- कुमुदिनी चन्द्रः	४)	॥=)

मन्त्री— स्वाध्याय मण्डल, आनन्दाश्रम पारडी जि. सूरत